मरण के उपरान्त सब कुछ यहीं पर रखा रह जायेगा, मात्र आत्मा ही साथ जायेगा, ध्यानपूर्वक इस बात को देखो तो सही कि ऐसा कौन सा गठबंधन है जिससे दो पदार्थों में शरीर और आत्मा में एकता का अनुभव होता है। शरीर को पड़ौसी समझना बड़ा कठिन काम हैं। जो सजग होकर वर्तमान का अनुभव करने का प्रयास करते हैं, वे शीघ्र ही समझ जाते हैं कि यह जो कुछ भी जुड़ाव है वह मोह का परिणाम है। शरीर को पृथक् जानकर उसके प्रति मोह ममता घटनी चाहिये और चेतन के प्रति मोह-ममता निरन्तर बढ़ती जानी चाहिये। यही वास्तविक ज्ञान है, वीतराग-विज्ञान है।

आज के भौतिक-विज्ञान की किसी भी पोथी में यह नहीं लिखा कि देह का अस्तित्व पृथक् है और आत्मा का अस्तित्व पृथक् है। इस प्रकार का भेद-विज्ञान धर्म ग्रन्थों की देन है। जो बताता है कि किस प्रकार शरीर से पृथक् आत्म-तत्व की अनुभूति करना संभव है। लेकिन आज तो जितना-जितना भौतिकता का ज्ञान बढ़ता जा रहा है। उतना-उतना शरीर के साथ संबंध और जुड़ता जा रहा है। पहले के लोग मोह को उत्पन्न करने वाले पदार्थों के साथ संबंध कम रखते थे, लेकिन आज का युग विकास के नाम पर मोह का विकास कर रहा है और आत्म-ज्ञान से वंचित होता जा रहा है।

दो दोस्त बहुत दिनों के बाद कहीं से आकर मिलते हैं तो चर्चा वार्ता होती है। परस्पर कह देते हैं कि अच्छा-अच्छा मैंने आपको पहिचान लिया लेकिन यथार्थ में दोनों ने अपने आपको नहीं पहचाना। मात्र 'पर' का परिचय बढ़ रहा है, लेन-देन की बातें आवागमन की बातें, और अर्थ के विकास की बातें ये सब मोह की पुष्टि के लिए हैं। अर्थ का विकास मोह का विकास ही है। आज मोह को क्षीण करने के लिए कोई रसायन तैयार नहीं किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में शान्ति प्राप्त करना कैसे संभव है? जिस त्याग-तपस्या के रसायन से शरीर और आत्मा को पृथक् किया जाता है उससे यदि आप दूर रहोगे तो शांति नहीं मिलेगी।

एक व्यक्ति यात्रा के लिए निकला। उसे पहाड़ के ऊपर चढ़ना था। उसने अपने पैरों में अच्छे जूते पहनकर चलना प्रारम्भ कर दिया। एकाध मील चला होगा कि उसे एक थैला पड़ा मिल गया। थोड़ा भारी था पर देखने में अच्छा था, उसने उठा लिया और इस तरह कंधे पर रख लिया कि जैसे थैले में स्वर्ण आदि श्रेष्ठ वस्तुएं रखी हों। जैसे-जैसे चढ़ता गया, वैसे-वैसे उसे दिक्कत होने लगी। बोझ अधिक है ऐसा सोचकर उसने अपनी जो दूसरी

थैली थी उसे रास्ते में ही छोड़ दिया, थोड़ी देर में जूते भी उतार कर अलग कर लिये और आगे बढ़ते-बढ़ते जब बहुत थक गया तो सोचा, थोड़ा विश्राम कर लूँ और देखूँ तो थैले में क्या है? ज्यों ही उसने उस थैले को खोला तो उसमें और कुछ नहीं था एक मात्र पाषाण का टुकड़ा था। चटनी वगैरह पीसने का पत्थर था।

यही दशा प्रत्येक संसारी प्राणी की है। जो वास्तव में अपना है, आत्म-तत्त्व है उसे छोड़कर बाह्य 'पर' पदार्थों को आप उठाकर आगे बढ़ रहे हैं और व्यर्थ बोझ सह रहे हैं। हम दुनियादारी की वस्तुओं को अपने ऊपर लादते चले जायें और चाहें कि मोक्ष मिल जाए, मोक्ष का पथ मिल जाय तो संभव नहीं है। ऐसा कोई पथ नहीं है और कोई उपदेश नहीं है जो आपका भार उतार दे। आप संसार का संग्रह करते जायें और मोक्षमार्ग मिल जाये यह कैसे संभव होगा। मोह को समाप्त करना ही मोक्षमार्ग है।

मोक्षमार्ग पर चलने के लिए हल्का होना अनिवार्य है। आप यदि तूम्बी पर मिट्टी का लेप कर दें तो वह तैरना भूल जायेगी और पानी के अंदर तल में चली जायेगी लेकिन ज्यों ही मिट्टी का लेप हट जाएगा त्यों ही वह पानी के ऊपरी भाग पर आकर तैरने लगेगी। यही स्थिति आत्मा की है। आत्मा संसार के महासमुद्र में डूब रही है और इसका एकमात्र कारण है मोह का बोझ। यदि वह छूट जाये तो हम नियम से ऊपर आ जायेंगे। हमारी यात्रा निर्बाध होगी। यदि आप ऊपर उठना चाहते हो, पीड़ा से छुटकारा पाना चाहते हो तो अपने आप पर स्वयं दया करके मोह को छोड़ने का प्रयास करो।

जहर दो तरह का होता है- एक मीठा जहर और एक कड़वा जहर। कड़वा जहर हो तो कोई भी पीते ही थूक देगा लेकिन मीठा जहर ऐसा है कि पीते ही चले जाना आनंद दायक लगता है। जब जीवन समाप्त होने लगता है तब मालूम पड़ता है कि यह तो जहर था। मोह ऐसा ही मीठा जहर है, जिसे संसारी प्राणी थूकना नहीं चाहता। इसकी मिठास इतनी है कि मृत्यु होने तक यह नहीं छूटता और दूसरे जीवन में भी प्रारम्भ हो जाता है। भव-भव में रुलाने वाले इस मोह के प्रति सचेत हो जाना चाहिये। तभी मुक्ति की ओर जाने का रास्ता प्रारम्भ होगा, तभी अपने आत्मतत्व की प्राप्ति होगी। अपने-पराये को जानकर पराये के प्रति मोह छोड़ना ही हितकर है।

शरीर अपना नहीं है, अपना तो आत्मतत्व है, यदि यह ज्ञान हो जाये तो भी कार्य आसान हो जायेगा 'स्व' को जानने की कला के माध्यम से 'पर'

के प्रति उदासीनता आना संभव है। एक महिला थी और उसके छह बच्चे थे। उनका आग्रह था कि माँ, हमें मेला दिखाओ। उस महिला ने सोचा कि चलो बच्चों का आग्रह है तो दिखा लाते हैं किंतु अभी बहुत छोटे हैं इसलिए उन्हें प्रशिक्षण देना आवश्यक है और वह उन्हें प्रशिक्षित कर देती है कि देखो, एक दूसरे का हाथ पकड़ रहना, मेले में भीड़ रहती है कहीं गुम न हो जाना अन्यथा हम नहीं ले जायेंगे।

सभी ने कह दिया कि हम आप जैसा कहोगी वैसा ही करेंगे, पर हमें मेला दिखा दो। वह महिला सब बच्चों के साथ मेला में जा पहुँची। सबको झूला झुलवाया, खिलौने खरीदे, मिठाई खरीदी, सारा मेला घुमा दिया, बच्चों को बहुत आंनद आया। शाम हो गई तो उसने सोचा अब घर लौटना चाहिये। उसने बच्चों को देखा कि कहीं कोई गुम तो नहीं गया। गिनकर देखा तो छह के स्थान पर पांच ही थे। दुबारा गिना तो भी पांच थे। अब वह महिला घबरा गयी। इतना बड़ा मेला और हमारा छोटा सा लड़का, कहाँ खोजें, समझ में नहीं आता। वह रोने लगी। तभी एक सहेली मिल गयी और उसने पूछा कि क्यों बहिन क्या हो गया? तब वह महिला कहती है कि क्या बताऊँ, छह बच्चे लायी थी, पाचं ही बचे है, एक बच्चा भीड़ में खो गया। तब वह सहेली गिनकर देखती है तो सारी बात समझ जाती है और पांच बच्चों को गिनने के बाद, उस महिला की गोद में सोये हुए बच्चे को थपथपाकर कहती है कि यह रहा छठवाँ लड़का।

यही स्थिति सभी की है। जो अत्यंत निकट है, अपना आत्म-तत्त्व, उसे ही सब भूले हुए हैं। बाह्य भोग सामग्री की ओर दृष्टिपात कर रहे हैं, उसे ही गिन रहे हैं कि हमारे पास इतनी कारें हैं, इतनी सम्पदा है। सुबह से शाम तक जो भी क्रियाएँ हो रही है, यदि हम जान लें कि सारी की सारी शरीर के द्वारा हो रही हैं और मैं केवल करने का भाव कर रहा हूँ, मैं पृथक् हूँ तो पर के प्रति उदासीनता आने में देर नहीं लगेगी। कठपुतली के खेल के समान सारा खेल समझ में आ जायेगा। शरीर के साथ जब तक आत्मा की डोर बंधी है तब तक संसार का खेल चलता रहेगा और जैसे ही यह डोर टूट गयी तो कठपुतली के समान नाचने वाला शरीर एक दिन भी नहीं टिकेगा।

जो ज्ञानी हैं, मुमुक्षु हैं, आत्मार्थी हैं, वे इस रहस्य को जान लेते हैं। जो आस्तिक्य गुण से सम्पन्न हैं वे इस रहस्य को जान सकते हैं। आत्मा के

अस्तित्व पर विश्वास करके ही उस आत्मतत्व को पाया जा सकता है। शरीर को 'पर' मानना, इतना ही पर्याप्त नहीं है, उसके साथ-साथ शरीर से मोह भाव को कम करना भी अनिवार्य है। 'पर' वस्तु के प्रति मोह भाव होने के कारण ही हम उसे अपना लेते हैं लेकिन जिस दिन मालूम पड़ जाता है कि यह तो 'पर' है, तब हँसी आती है कि आज तक हम किसके पीछे पड़े थे।

बंधुओ! शरीर की गिनती तो कई बार हो चुकी, जो पर पदार्थ है उनकी गिनती भी कई बार हो चुकी लेकिन अपनी गिनती अभी करना बाकी है। मैं कौन हूँ- आज के वैज्ञानिक युग में इसकी खोज भी आवश्यक है। सांसारिक क्षेत्र में पदार्थों को जानने के लिए ज्ञान ही मुख्य माना जाता है लेकिन आध्यात्मिक क्षेत्र में साधना और अनुभूति ही मुख्य है। जिसने अपने आप का अनुभव कर लिया वह 'पर' के प्रति निर्मोही बनता चला जाएगा और एक दिन भगवान राम के समान, भगवान महावीर के समान मुक्ति को प्राप्त कर लेगा। संपूर्ण मोह के अभाव का नाम है मोक्ष और मोह के अभाव के लिए क्रम-क्रम से उसे कम करते हुए आगे बढ़ने का नाम है मोक्षमार्ग।

□□

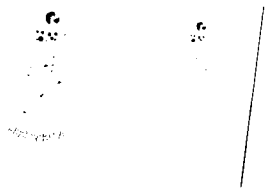

के प्रति उदासीनता आना संभव है। एक महिला थी और उसके छह बच्चे थे। उनका आग्रह था कि माँ, हमें मेला दिखाओ। उस महिला ने सोचा कि चलो बच्चों का आग्रह है तो दिखा लाते हैं किंतु अभी बहुत छोटे हैं इसलिए उन्हें प्रशिक्षण देना आवश्यक है और वह उन्हें प्रशिक्षित कर देती है कि देखो, एक दूसरे का हाथ पकड़ रहना, मेले में भीड़ रहती है कहीं गुम न हो जाना अन्यथा हम नहीं ले जायेंगे।

सभी ने कह दिया कि हम आप जैसा कहोगी वैसा ही करेंगे, पर हमें मेला दिखा दो। वह महिला सब बच्चों के साथ मेला में जा पहुँची। सबको झूला झुलवाया, खिलौने खरीदे, मिठाई खरीदी, सारा मेला घुमा दिया, बच्चों को बहुत आंनद आया। शाम हो गई तो उसने सोचा अब घर लौटना चाहिये। उसने बच्चों को देखा कि कहीं कोई गुम तो नहीं गया। गिनकर देखा तो छह के स्थान पर पांच ही थे। दुबारा गिना तो भी पांच थे। अब वह महिला घबरा गयी। इतना बड़ा मेला और हमारा छोटा सा लड़का, कहाँ खोजें, समझ में नहीं आता। वह रोने लगी। तभी एक सहेली मिल गयी और उसने पूछा कि क्यों बहिन क्या हो गया? तब वह महिला कहती है कि क्या बताऊँ, छह बच्चे लायी थी, पाचं ही बचे है, एक बच्चा भीड़ में खो गया। तब वह सहेली गिनकर देखती है तो सारी बात समझ जाती है और पांच बच्चों को गिनने के बाद, उस महिला की गोद में सोये हुए बच्चे को थपथपाकर कहती है कि यह रहा छठवाँ लड़का।

यही स्थिति सभी की है। जो अत्यंत निकट है, अपना आत्म-तत्त्व, उसे ही सब भूले हुए हैं। बाह्य भोग सामग्री की ओर दृष्टिपात कर रहे हैं, उसे ही गिन रहे हैं कि हमारे पास इतनी कारें हैं, इतनी सम्पदा है। सुबह से शाम तक जो भी क्रियाएँ हो रही है, यदि हम जान लें कि सारी की सारी शरीर के द्वारा हो रही हैं और मैं केवल करने का भाव कर रहा हूँ, मैं पृथक् हूँ तो पर के प्रति उदासीनता आने में देर नहीं लगेगी। कठपुतली के खेल के समान सारा खेल समझ में आ जायेगा। शरीर के साथ जब तक आत्मा की डोर बंधी है तब तक संसार का खेल चलता रहेगा और जैसे ही यह डोर टूट गयी तो कठपुतली के समान नाचने वाला शरीर एक दिन भी नहीं टिकेगा।

जो ज्ञानी हैं, मुमुक्षु हैं, आत्मार्थी हैं, वे इस रहस्य को जान लेते हैं। जो आस्तिक्य गुण से सम्पन्न हैं वे इस रहस्य को जान सकते हैं। आत्मा के

अस्तित्व पर विश्वास करके ही उस आत्मतत्व को पाया जा सकता है। शरीर को 'पर' मानना, इतना ही पर्याप्त नहीं है, उसके साथ-साथ शरीर से मोह भाव को कम करना भी अनिवार्य है। 'पर' वस्तु के प्रति मोह भाव होने के कारण ही हम उसे अपना लेते हैं लेकिन जिस दिन मालूम पड़ जाता है कि यह तो 'पर' है, तब हँसी आती है कि आज तक हम किसके पीछे पड़े थे।

बंधुओ! शरीर की गिनती तो कई बार हो चुकी, जो पर पदार्थ है उनकी गिनती भी कई बार हो चुकी लेकिन अपनी गिनती अभी करना बाकी है। मैं कौन हूँ- आज के वैज्ञानिक युग में इसकी खोज भी आवश्यक है। सांसारिक क्षेत्र में पदार्थों को जानने के लिए ज्ञान ही मुख्य माना जाता है लेकिन आध्यात्मिक क्षेत्र में साधना और अनुभूति ही मुख्य है। जिसने अपने आप का अनुभव कर लिया वह 'पर' के प्रति निर्मोही बनता चला जाएगा और एक दिन भगवान राम के समान, भगवान महावीर के समान मुक्ति को प्राप्त कर लेगा। संपूर्ण मोह के अभाव का नाम है मोक्ष और मोह के अभाव के लिए क्रम-क्रम से उसे कम करते हुए आगे बढ़ने का नाम है मोक्षमार्ग।

□□

आदर्श बंधन

अनंत जलराशि का वाष्पीकरण होता है सूर्य के प्रताप से और वह बादलों में ढल जाता है पुनः वर्षा के जल के रूप में नीचे आ जाता है। पर्वत के शिखर पर भी क्यों न गिरे, वहाँ से वह नीचे की ओर ही बहता है। जल जब तक द्रव रूप में रहेगा तब तक वह नीचे की ओर ही बढ़ेगा। किंतु जब हम उसे रोक देते हैं तो वह रुका हुआ मालूम पड़ता है किंतु वह रुकता नहीं है।

अभी उड़ीसा की तरफ से हम आ रहे थे! वहाँ पर संबलपुर के पास एक गाँव है हीराकुण्ड। वहाँ महानदी को बांधने का प्रयास इस युग के मानव ने किया है। उस जल को बांधने के उपरांत भी वह गतिमान है। पहले वह नीचे की ओर जाता था अब ऊपर की ओर बढ़ रहा है। जितना-जितना पानी ऊपर की ओर बढ़ेगा उतना-उतना खतरा उत्पन्न होता जायेगा। बांध एक प्रकार का बंधन है। जैसे बंधन में बंधा व्यक्ति उग्र हो जाये तो काम बिगड़ जाता है। ऐसा ही बांध के पानी का है, इसलिए बांध पर खतरा लिखा हुआ रहता है।

पहले जब पानी सहज गति से बहता था तो कोई खतरा नहीं था बल्कि देखने योग्य मनोरम दृश्य था। लेकिन अब खतरा हो गया। एक भी ईंट या पत्थर खिसक जाए तो क्या दशा होगी? जो जल ऊपर की ओर बढ़ रहा है उसे रोका नहीं गया है, मात्र रास्ता बंद किया है और जब किसी का रास्ता रोका जाता है तो वह अपने विकास के लिए प्रयत्न करता है, अपनी शक्ति का प्रयोग करता है और ऐसा होने से संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। नदियों के साथ संघर्ष नहीं है पर बांध के साथ संघर्ष है।

हम जब छोटे थे तब खेत में जाकर देखते थे। वहाँ पर किसान लोग चरस चलाते थे। पानी आता था और बने हुए रास्ते से गुजरता हुआ चला जाता था। गन्ने के खेत को पानी पिलाया जा रहा था। जहाँ वह जल मुड़ गया था उस मोड़ पर वह किसान बार-बार मिट्टी के ढेले डाल देता था, कभी-कभी गन्ने के छिलके भी लगाता था ताकि मजबूत बना रहे। क्योंकि वहाँ जल टकराता था इसलिए वहाँ संघर्ष था, मिट्टी रुक नहीं पाती थी। जब

इतने से जल के साथ सावधानी रखनी पड़ती है तब जहाँ बांध बनाया जाता है वहाँ कितना बड़ा काम है।

यह तो उदाहरण की बात है। ऐसी ही चारों गतियों के प्रवाह में जीव की स्थिति है। वहाँ उसकी शक्ति देखने में नहीं आती। लेकिन जब वह उर्ध्वगमन करने लगना है तब शक्ति देखने में आती है। आणविक शाक्तियों से भी बढ़कर काम करने वाली यह शक्ति है। अपने उपयोग को ऐसा बांध दिया जाए कि कर्म की चपेट से बच सकें तो जीवन का प्रवाह उर्ध्वगामी हो जाता है और धीरे-धीरे सिद्धालय की ऊँचाईयां छू लेता है। यह बड़ी मेहनत का काम है बड़े-बड़े इंजीनियर भी इसमें फेल हो जाते हैं। बहुत साधना के उपरांत भी सफलता मिले यह जरूरी नहीं है। बांध बनाते समय सारी साधना, आत्मविश्वास और साहस के साथ इंजीनियर कार्य करता है लेकिन असाता कर्म का प्रवाह आते ही सारे के सारे खंभे गिरे जाते हैं।

इस युग के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी को भी इस प्रवाह को रोकने और आत्मा को उर्ध्वगामी करने के लिए पूरे बारह वर्ष लग गए थे। आदि ब्रह्मा आदिनाथ को भी एक हजार वर्ष लग गये थे। वे कितने बड़े इंजीनियर थे, उनकी उस यूनिवर्सिटी को देखने की आवश्यकता है। मैं बार-बार चिंतन करता हूँ कि उस यूनिवर्सिटी में हमारा नम्बर आ जाए तो बड़ा अच्छा रहे। वहाँ नंबर आये बिना काम बनने वाला नहीं है। उन्होंने अपने उपयोग रूपी बांध का निर्माण कैसे किया, वह समझने की बात है।

यह जो आत्म-तत्त्व पानी के समान चारों गतियों में बह रहा है उसे नियंत्रित करना और उर्ध्वगामी बनाना बड़ा कठिन कार्य है। नदी पर बनने वाले बांध में तो सीमेंट और पत्थर लगाये जाते हैं लेकिन उपयोग के प्रवाह में क्या लगायें, वह तो एक सेकण्ड में बदल जाता है। बांधते-बांधते ही रास्ता बदल लेता है। इतने सूक्ष्म परिणमन वाले परिवर्तनशील उपयोग को बांधना साधना के बिना संभव नहीं है। जब हम स्कूल में पढ़ते थे, तब एक पाठ पढ़ा था। एक ऐसी नदी चीन में है जो रातों रात पाट बदलती है। बहने की दिशा कई बार बदल लेती है। तो लोगों को बड़ी घबराहट हो जाती है, बड़ा खतरा उत्पन्न हो जाता है। मैं बार-बार सोतचा हूँ कि इतने-इतने छोटे-छोटे कामों के लिए इतनी साधना की आवश्यकता होती है तब अपने आत्म प्रवाह को बांधने के लिए कितना पुरुषार्थ करना होगा।

भारतीय संस्कृति का इतिहास उज्ज्वल रहा है। भारतीय संस्कृति के अनुरूप वैसे कोई भी कार्य कठिन नहीं है क्योंकि पराश्रित कार्य कठिन हो भी सकता है किंतु स्वाश्रित कार्य बहुत आसानी के साथ होते देखे जाते हैं। इतना अवश्य है कि ऐसे कार्यों के लिये अपनी ओर देखें, अपनी आत्म-शक्ति को जाग्रत करें और श्रद्धा रखें तो सफलता आसानी से प्राप्त हो जाती है। हमारा जीवन जो भोग-विलास की ओर ढला हुआ है उसे योग की ओर कैसे लाया जाये? क्या पद्धति अपनायी जाये जिससे हमारा प्रवाह भोगों की ओर से हटकर योग की ओर आ जाए? रात-दिन खाने पीने की इच्छा, शरीर को आराम देने की इच्छा, सुनने की इच्छा, सूँघने की इच्छा, स्पर्श करने की इच्छा और मन में सभी भोगों का स्मरण चलता रहता है। ऐसी स्थिति में योग कैसे धारण करें? तो इतना ही करना है कि जिस प्रकार आप उस ओर जा रहे हैं, उसी प्रकार इस और आ जायें।

उपयोग की दिशा में बदलाहट लानी होगी। बड़ा दृढ़ श्रद्धानी और धैर्य वाला उपयोग चाहिये, जो बदलाहट के बोझ को सहन कर सके। जैसे आप सीढ़ियों के ऊपर चढ़ते जाते हैं और जरा सा घुमाव आ जाए तो आजू-बाजू सँभालकर चलना होता है उसी प्रकार उपयोग को भोग के धरातल से योग के शिखर तक लाना महान कठिन कार्य है। सावधानी की बड़ी आवश्यकता है। श्रद्धान दृढ़ बनाना होगा, दिशा का सही चयन करना होगा और वि-दिशाओं को बंद करना होगा तभी ऊँचाईयों तक पहुँचना संभव है।

आज का भारतीय नागरिक भोग की ओर जा रहा है और भोग्य सामग्री को जोड़ता हुआ वह योग को पाना चाह रहा है। योग को पाने के लिए भोग का वियोग करना होगा, उसे एकदम विस्मृत करना होगा तभी योग को पाया जा सकता है। भोग मेरे लिए अहितकारी है, ऐसा सोचना होगा और अनुभव से ऐसी धारणा बनानी होगी कि भोग मेरा साथी नहीं है, उससे मेरा उद्धार अभी तक नहीं हुआ और कभी भी नहीं हो सकता। भोग मेरी दिशा और दशा में बदलने वाला है, वह मेरे लक्ष्य में साधक नहीं बल्कि बाधक है। चारों ओर भोगों की ओर जाने वाला उपयोग यदि वहाँ जाना बंद कर दें तो उपयोग की धारा को योग की ओर ले जाना आसान हो जायेगा।

जैसे डॉक्टर क्रमशः इलाज करता है और रोगी को रोग-मुक्त कर देता है। ऐसा ही यदि आप चाहें तो क्रमशः भोगों को कम करते-करते उससे पूरी तरह मुक्त हो सकते हैं और अपनी चेतना की धारा योग की तरफ मोड़

सकते हैं। साधना की बात है, अभ्यास की बात है। घुड़सवार होते है, घोड़े के ऊपर बैठ जाते हैं। आपने कभी गौर से देखा हो तो मालूम पड़ जायेगा कि वे घोड़े के ऊपर बैठते नहीं है, जब घोड़ा दौड़ता है तो वे घोड़े की पीठ पर लटके पायदान पर पैर रखकर उसके ऊपर सारा वजन डाल देते हैं, लगभग खड़े हो जाते हैं। घोड़ों को काबू में रखने के लिए ऐसा करना अनिवार्य है। इसी प्रकार उपयोग को रोकने के लिए योगीजन प्रयास करते हैं। सतर्क होकर धीरे-धीरे नियंत्रण करते हैं।

भारत का प्रत्येक नागरिक भोगों को क्रमशः नियंत्रित करने के लिए ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। विवाह करता है। विवाह की पद्धति के बारे में भारत की प्रथा एक अलग प्रथा है। यहाँ विवाह का अर्थ मात्र भोग का समर्थन करना नहीं है बल्कि भोग को नियंत्रित रखने की प्रक्रिया है। काम को क्रमशः जीतने का एक सीधा-सरल तरीका है विवाह। जो व्यक्ति विवाह के बिना रहना चाहता है उसके लिए योग की साधना अलग है, जिसके माध्यम से वह जीवन की ऊर्जा को उर्ध्वगममान बनाता है। अपने जीवन में फिर पीछे मुड़कर नहीं देखता। लेकिन इस प्रकार के व्यक्तियों की संख्या अत्यल्प है।

बहुसंख्यक लोगों के लिए, जो विवाह की पद्धति अपनाते हैं, उन्हें भी पूर्व भूमिका का प्रशिक्षण लेना चाहिये, जीवन को किस प्रकार ढालना है, इस विषय में आज कोई वहीं सोचता। सोचना चाहिये। यदि माँ-पिता लड़की या लड़के को देखते हैं तो पहले धन नहीं बल्कि उनके चारित्र के बारे पूछताछ करनी चाहिये, भारतीय सभ्यता के अनुसार तो विवाह की यही प्रक्रिया है। इसके बाद ही संबंध होते हैं। संबंध का क्या अर्थ है? 'समीचीन रूपेण बंध इति'- समीचीन रूप से बंधने का नाम ही संबंध है।

आज अधिकतर सुनने में आता है कि संबंध बिगड़ गया। बिगड़ने का कारण क्या है, तो यही कि पूर्वापर विचार नहीं किया और संबंध तय कर दिया। यही तो मुश्किल है। जो संबंध होता है वह माता-पिता को द्वारा किया जाता है और वह वर बधू को मंजूर होता है। वे जानते हैं कि माता-पिता ने हमारे हित के लिए किया है।

एक बार की बात है। मुसलमानों के यहाँ शादी थी। पंडाल में वर को बैठाया गया और वधू को बहुत दूर अंदर परदे की ओट में। दोनों पक्षों में मौलवी रखे गये थे। उनके द्वारा पूछा गया कि क्या यह संबंध दोनों को मंजूर

है तो वे कह देते हैं कि जी हाँ! मंजूर है। यह एक बार नहीं, तीन बार बोलना पड़ता है जैसे आप मन-शुद्धि, वचन-शुद्धि और काय-शुद्धि बोलते हैं। हमने सोचा कि यह तो शपथ हो गयी। सभी के सामने शपथ ले ली ताकि संबंध पूरी जानकारी के साथ हो।

आज तो भारत की क्या दुर्दशा हो गयी है? कभी आपने सोचा कि किस तरह भारतीय सभ्यता टूटती जा रही है विवाह के मामले में । यदि भारतीय सभ्यता से संस्कारित होकर शादी की जाए तो पति-पत्नी दोनों कुछ ही दिनों में भोगों से विरक्त होकर घर से निकलने का प्रयास करते हैं। भोगों को त्यागने की भावना उनके अंदर स्वतः ही आने लगती है और उसके उपरांत आत्मोद्धार करके वे अपने जीवन का निर्माण कर लेते हैं।

कुल-परम्परा और संस्कृति का ध्यान रखकर जो विवाह होते हैं उनमें भोग की मुख्यता नहीं रहती। विवाह के समय होने वाले विधि-विधान पर वर-वधू को सदाचार, विनय, परस्पर स्नेह, और व्यसन मुक्त होकर जीने का संदेश देते हैं। सप्तपदी विवाह में सात प्रतिज्ञाएं दी जाती हैं। जिनका पालन वर-वधू को जीवन-पर्यंत करना होता है। विवाह की सामग्री में अष्ट मंगल द्रव्य और विशेष रूप से स्वास्तिक को रखा जाता है। हमने सोचा कि सांथिया के बिना यहाँ भी काम नहीं चलता। स्वास्तिक का अर्थ है 'स्वस्थ अस्तित्त्वं द्योतयति इति स्वास्तिकं', अपने अस्तित्व को उद्योत करना, अपने आप को पा लेना।

उसका सीधा सा अर्थ यही हुआ कि विवाह के समय कह दिया जाता है कि देखो, तुम दोनों मिलने जा रहे हो लेकिन ध्यान रखना, सब कार्यों को मिल जुलकर करना अपनी दिशा को नहीं भूलना और 'स्व' के अस्तित्व को भी कभी नहीं भूलना। यह आत्मा को उन्नत बनाने की प्रक्रिया है। यह एक मात्र अवलम्बन है। जिस प्रकार नदी को पार करते समय नाव की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार जंगल को पार करते समय मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है, किसी सूचना या संकेत फलक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार जीवन-साथी के माध्यम से दोनों पार हो जायें भवसागर से, यह परस्पर आलम्बन बनाया जाता है।

इतनी ही नहीं, सबसे बड़ा संकल्प तो इस बात का किया जाता है कि 'मातृवत् परदारेषु' अर्थात् एकमात्र पत्नी को छोड़कर अब पति के लिए संसार में जितनी भी महिलाएं हैं, उनमें अपने से बड़ी को मां के समान,

बराबर उम्र वाली को बहिन के समान और छोटी को पुत्री के समान समझना, ऐसा कह दिया जाता है। और वधू से कहा जाता है कि वर को छोड़कर सबको पिता के समान, भाई के समान या पुत्र के समान जानना। इसके अलावा और कोई राग भाव नहीं आना चाहिये।

देखो, कितना अनुशासन है। महानदी असीम क्षेत्र में फैली हुई थी। उसकी शक्ति को एकत्रित करके उस जल का उपयोग करने के लिए बांध का निर्माण किया गया। जो काम इतनी बड़ी नदी नहीं कर पा रही थी, अब बांध के द्वारा होने लगा। जहाँ तक वह पानी फैलाना चाहो, फैलाओ। सारा पानी काम आयेगा। क्योंकि बंधा हुआ बाँध है अनुशासित है। अभी नदी के बहते हुए जल से बिजली नहीं बनती थी, अब बांध के माध्यम से बिजली का भी निर्माण होगा।

विवाह का संबंध भी ऐसा ही अनुशासित बंधन है, जिससे उत्पन्न शक्ति के द्वारा समाज का विकास होगा, वह समाज के उपयोग में आयेगी। प्रत्येक बंधन का उद्देश्य ऐसी शक्ति का निर्माण करना है जो विश्व को प्रकाश दे सकें, आदर्श प्रस्तुत कर सके। सब कुछ भूल जाना लेकिन अपने आप को नहीं भूलना, इसी को बोलते हैं दाम्पत्य बंधन। अब दम्पति हो गये। अपनी अनंत इच्छाओं का दमन कर लिया, उनको सीमित कर लिया।

कभी आपने सोचा कि बांध कब टूटता है। बांध उस समय टूटता है जब बांध बनाने वाले को लोभ आ जाता है। इसी प्रकार आज दाम्पत्य-बंधन के बीच में यदि धन सम्पति का लोभ आ जाता है, लालसा बढ़ जाती है तो दुर्घटना घट जाती है। जिस जल राशि के द्वारा कल्याण होता था, उसी के द्वारा तबाही होने लगती है। परिवार और समाज की बदनामी हो जाती है। बांध टूट जाने पर पुनः निर्माण उसी जगह संभव नहीं होता। बड़े-बड़े इंजीनियर लोग अपना दिमाग लगा देते हैं, तब भी जोड़ना मुश्किल पड़ता है। वस्त्र फट जाने पर आप जोड़ लगा देते हैं लेकिन पूरी की पूरी मजबूती रहे ऐसा जोड़ लगाना संभव नहीं होता। एक बार संबंध टूट जाने पर फिर बे-मेल हो जाता है वह संबंध।

बंधुओ। भोग से बचकर योग की ओर जाने के लिए एक ऐसा संबंध विवाह के द्वारा बनाया जाता है कि जिसके उपरांत जीवन का प्रवाह अपने आप ही आगे बढ़ जाये। शरीर भिन्न-भिन्न रहते हुए भी आत्मिक संबंध ऐसा हो जाए कि जीवन बेजोड़, एक जैसा और अद्‌भुत महसूस होने लगे।

एक गाड़ी में दो बैल जोते जाते हैं। एक बैल यदि पूर्व की ओर जाये और दूसरा पश्चिम की ओर जाने लगे तो बैलगाड़ी का आगे बढ़ना मुश्किल हो जाता है। बैलगाड़ी चलाने वाला कितना भी होशियार क्यों न हो, वह भी परेशान हो जाता है। जब दोनों समान दिशा में चलेंगे तभी जीवन की गाड़ी चल पाती है। आचार-विचार में ऐक्य होना आवश्यक है। जहाँ ऐक्य है वहाँ जीवन में बहुत अच्छे-अच्छे कार्य हो सकते हैं। जीवन के खंड-खंड नहीं होने चाहिये। जीवन अखंड बने, ऐसा भाव बनाना चाहिये।

आज की विवाह प्रक्रिया को देखकर लगता है कि व्यक्ति प्राचीनकाल से चली जा रही सही पद्धति को छोड़ते चले जा रहे हैं। धन पैसे का लालच बढ़ता जा रहा है। आज बड़ी उम्र की कन्याएं दहेज के कारण तकलीफ पाती हैं। उनका जीवन उनके घर में सुरक्षित नहीं रहता। उन पिताओं पर क्या गुजरती है जिनकी बेटियों के ऊपर आए दिन दुर्घटनाएं घटती हैं? यह तो वही जानते हैं। अब तो विवाह न होकर यह तो व्यवसाय हो गया है। यह कैसी परम्परा, यह कौन सा आदर्श प्रस्तुत किया जा रहा है पढ़े लिखे आज के समाज द्वारा।

अगर कोई कन्या आगे जाकर ऐसा कह दें कि दहेज में हजारों रुपये देकर हमने लड़के को खरीद लिया तो क्या होगा? जीवन पर्यन्त के लिए जो एक हो रहे हैं, क्या इस तरह उनके जीवन में ऐक्य हो जाएगा? क्या जीवन पर्यंत वे सुखपूर्वक जी सकेंगे? जो प्रतिज्ञाएं उन्हें दिलायी जाती हैं उनका कोई अर्थ जीवन में रह जाएगा? कोई अर्थ नहीं रहेगा। ऐसे संबंध आत्म-कल्याण के लिए बाधक ही बनते हैं।

पाणिग्रहण होता है, एक दूसरे का हाथ पकड़कर जीवन भर साथ चलने का संकल्प लिया जाता है। जीवन में कौन-कौन सी घाटियां आ सकती हैं, कैसी-कैसी बाधाएं आ सकती हैं, उन सभी में दोनों मिल जुलकर संतोष पूर्वक आनंद के साथ रहें, दोनों परस्पर सहयोगी बने, एकता के साथ जिऐं, यही भावना होती है। लेकिन अर्थ के प्रलोभन के वशीभूत होकर आज अनर्थ हो रहा है। समाज के द्वारा इस पर अकुंश लगाया जाना चाहिये। मात्र धर्म की चर्चा करने से कुछ नहीं होगा, आचार-विचार में धर्म आना चाहिए।

आचार्य उमास्वामी ने लिखा है 'अदत्ता दानं स्तेयं'- देने की भावना नहीं होने पर जो जबर्दस्ती दिलवाया जाये, वह सब चोरी है, पाप है। लड़की का पिता दहेज दे नहीं रहा है, उसे देना पड़ रहा हैं उसकी देने की इच्छा नहीं

है लेकिन भरे पंडाल में उसे देने के लिए मजबूर किया जा रहा है तो यह क्या है? आप भले ही न मानें पर आगम ग्रंथों में इसे चोरी कहा गया है। पांच पापों में एक पाप है।

आज जिसे आचार्यों ने कन्यादान माना है वह व्यवसाय हो गया है। सौदा हो गया है। चेतना का मोल जड़ के द्वारा किया जा रहा है जो कि मानवता के महापतन का सूचक है। शादी के बाद जब कन्या पति के घर आती है तब गृहलक्ष्मी मानी जाती है, देवी के समान मानी जाती है। कन्यादान देने वाला पिता श्रेष्ठ पात्र को देखकर यह दान देता है ताकि जीवन पर्यन्त उसकी उन्नति हो सुरक्षा हो। दोनों मिलकर आत्म-कल्याण करें। सांसारिक विषय भोगों में ही न फंसे रहें बल्कि आत्मोद्धार के लिए अग्रसर हों। आत्म-चिंतन के लिए समय निकाल सकें। धर्मध्यान पूर्वक सदाचारमय जीवन व्यतीत करें।

यह सारे संस्कार, आचार-विचार आज लुप्तप्राय हो गये हैं। कोई भी आदर्शमय विवाह देखने में नहीं आता। इतना पैसा कमा करके आप कहाँ रखेंगे? कहाँ ले जायेंगे? यह लोभ धर्म को नष्ट-भ्रष्ट करता चला जा रहा है। सभ्य समाज पर इसका बुरा प्रभाव पड़ रहा है। समाज में यदि एक भी बुरा कार्य हो जाता है तो उसकी बुरी छाप पूरे समाज में पड़ती है। भाई, यह अर्थ प्रलोभन ठीक नहीं है। भोग समाग्री की लिप्सा आपको कभी योग का स्वाद नहीं लेने देगी। अपने जीवन को ऐसा बनाओ जिससे लोग अच्छी शिक्षा ले सकें। पुराणों में देखो, सद्गृहस्थ का जीवन कितना उज्ज्वल था। कैसी निर्मल साधना थी।

एक साधु गैरुआ रंग के वस्त्र पहने हुए थे। हाथ में रुद्राक्ष की माला लेकर प्रभु के ध्यान में तल्लीन थे। मौन साधना चल रही थी। कोई बिना मांगे कुछ दे देता, तो ठीक, नहीं तो मांगने का कोई सवाल नहीं। तभी एक घटना घटी कि आकाश में बादल छा गए और वर्षा होने लगी। तापसी ने ऊपर देखा तो देखते ही बादल फट गये, बरसात बंद हो गयी और आकाश स्वच्छ हो गया। उसे विश्वास हो गया कि साधना पूरी हो गयी है। साधना का फल दिखाई देने लगा।

दूसरे दिन की बात है कि वही महात्मा जी एक पेड़ के नीचे बैठे थे। पेड़ की शाखा पर बैठे कबूतर ने उनके ऊपर बीट कर दी। उन्होंने जैसे ही आंख उठाकर कबूतर को ओर देखा और वह कबूतर भस्मसात हो गया। अब अपनी शक्ति पर अहंकार आ गया और सोचा कि धीरे-धीरे इसका प्रचार-प्रसार करना चाहिये। चमत्कार सभी को मालूम पड़ना चाहिए। आगे एक गांव की

ओर चल पड़े। वहाँ जब अपने चमत्कार की चर्चा की तो एक व्यक्ति ने कह दिया कि इसमें विशेष बात नहीं है। गांव में ऐसे मौन साधक बहुत हैं जो घर गृहस्थी में रहकर भी ऐसे चमत्कार दिखा सकते हैं। साधु को आश्चर्य हुआ और सोचा कि चलकर देखा जाए।

एक घर के सामने पहुँचकर कहा कि 'भिक्षां देहि'- भिक्षा देओ। अंदर से आवाज आ गयी कि ठहरिये, ठहरिये, अभी थोड़ा काम कर रही हूँ। थोड़ी देर ठहरकर साधु से रहा नहीं गया और कहा कि जानती हो मैं कौन हूँ? अब की बार अंदर से धान कूटने का कार्य कर रही महिला ने कहा कि जानती हूँ। मुझे मालूम है आप कौन हैं। पर ध्यान रहे मैं कबूतर नहीं हूँ।

अब तो साधु आपे से बाहर हो गया पर ज्यों ही उसने घर के अंदर झाँककर देखा तो दंग रह गया। वह महिला धान कूटते-कूटते पति के लिए कुछ सामान देने उठी तो मूसल यूँ ही छोड़ दिया और चली गयी। मूसल जहाँ छोड़ा था वहीं हवा में स्थिर हो गया। जब वह पति की सेवा से निवृत्त हुई तो मसूल ठीक से संभालकर रखा और साधु के पास पहुँच गयी और कहा कि क्षमा करियेगा महाराज। मैं अपने पति की सेवा में व्यस्त थी इसलिए आपको भिक्षा देने में विलंब हुआ।

वह तपस्वी बहुत लज्जित हुआ। उसका क्रोध जाता रहा और उसने कहा कि 'माई! आपकी साधना अद्‌भुत है। आपका पतिधर्म श्रेष्ठ है।' सतीत्व के प्रभाव से ही वह मूसल हवा में स्थिर रह गया। ऐसी पतिव्रता स्त्रियाँ होती थी। ऐसा परस्पर प्रेमभाव हुआ करता था। भोग-सामग्री के बीच रहकर भी योगी जैसा जीवन जीते थे और गृहस्थ धर्म के संकल्पों को, कर्त्तव्यों को भलीभाँति पूरा करते थे। आज भी कुछ भारतीय लोग इन संस्कारों से संस्कारित हैं किंतु धीरे-धीरे पश्चिमी प्रभाव से सभी प्रभावित हो रहे हैं।

गृहस्थाश्रम को भी आदर्शमय बनाने का प्रयास गृहस्थ को करना चाहिये। गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम की ओर गतिशील होना चाहिये। जीवन पर्यन्त जब तक संबंध रहे तब तक एक होकर रहना चाहिये। जीवन के अंतिम समय में महिलाएं आर्यिका व्रत ले सकती हैं और पुरुष साधु बन सकते हैं। यदि इस प्रकार की साधना कोई करे तो संसार का अंत होने में देर नहीं है। यही भोग से योग की ओर जाने का एकमात्र यात्रा पथ है। जो इस पथ पर आरूढ़ होता है उसका नियम से इस जीवन में कल्याण होता है और दूसरे के लिए भी आदर्श प्रस्तुत होता है। □□

आत्मानुशासन

पिता और पुत्र दोनों घूमने जा रहे हैं। पिता को दर्शनशास्त्र का अच्छा अनुभव है। उम्र के हिसाब से भी वृद्ध हैं। अपने पुत्र से जाते-जाते रास्ते में चलती चक्की देखकर कहते हैं कि यही दशा इस संसार की है। 'चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय, दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।' -संसार रूपी इस चक्की में सुख-दुख के दो पाटों के बीच सारा संसार पिसता जा रहा है। यहाँ किसी को सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती और दुख का अभाव नहीं हो पाता। क्योंकि दो पाटो के बीच में जैसे धान का दाना साबुत नहीं बच पाता, इसी प्रकार कोई भी साबुत नही बन पाता।

यह बात सुनकर बेटा कहता है पिताजी जरा इस बात पर भी ध्यान दें कि 'चलती चक्की देखकर दिया कमाल ठिठोय, जो कीली से लग रहे मार सके नहि कोय।' यह कोई नियम नहीं कि संसार के सारे प्राणी दुख का ही अनुभव करते हैं। या संसार के सारे जीव जन्म मरण रूपी पाटों के बीच पिसते ही रहेंगे। जिसने धर्मरूपी कील का सहारा ले लिया है या जिसका जीवन ही धर्म मय बन गया है, उसे संसार में कोई भटका नहीं सकता। **इस रहस्य को हर कोई नहीं जानता।** यह घटना कबीर के जीवन की है। उनका बेटा कमाल था। उसने बात भी कमाल की कही। कहीं भागने की आवश्यकता नहीं है, उसी चक्की में रहिये लेकिन चक्की के चक्कर में मत आइये। आप चक्कर में आ जाते हैं इसलिए पिस जाते हैं। कील का सहारा ले लिया जाए तो बचना आसान है। केंद्र में हमेशा सुरक्षा रहती है। और परिधि में हमेशा घुमाव रहता है।

यह अज्ञानी संसारी प्राणी मृत्यु से डरता है किन्तु उससे उसे छुटकारा नहीं मिलता और निरंतर मोक्षसुख को चाहता है। किंतु चाहने मात्र से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। फिर भी भय और काम के वशीभूत हुआ यह जीव व्यर्थ ही संसार में कष्ट पाता है। रहस्य नहीं समझ पाता। जो इस रहस्य को, जान लेता है वह संसार समुद्र से पार उतर सकता है।

सुख-दुख दोनों अपनी-अपनी दृष्टि के ऊपर आधारित हैं। संसार में जितने जीव हैं सभी को दुख ही होता है ऐसी बात नहीं है। जेल में देखो,

जो कैदी है जिसने अपराध किया है। जो न्यायनीति से विमुख हुआ है वही दुख पाता है, किंतु उसी जेल में जेलर भी रहता है, उसे उस प्रकार का कोई दुख नहीं होता। बंधन कैदी के लिए है, जेलर के लिए नहीं। जेलर और कैदी दोनों एक ही स्थान पर है किंतु एक सुख का अनुभव कर रहा है और एक दुख का। इसका अर्थ यह हुआ कि सुख और दुख का अनुभव करने में कारण व्यक्ति की विचार-धारा ही बनती है। मन की स्थिति के ऊपर ही निर्धारित है उसका संवेदन। बिना उपयोग के वह सुख और दुख संभव नहीं।

समयसार जी में आचार्य कुंदकुंद देव कहते हैं कि कर्मो का उदय मात्र बंध का कारण नहीं हैं किंतु अपने अंदर विद्यमान रागद्वेष भाव एवं 'पर' पदार्थों में ममत्व बुद्धि का होना ही बंध का कारण है। मात्र वस्तु बंध के लिए कारण नहीं है बल्कि उस वस्तु के प्रति हमारा जो अध्यवसान या भाव है वही बंध का कारण है। संसार में रहना तो अपराध है ही किंतु संसार में लीन होकर रहना और महाअपराध है। इससे बचने का उपाय बताने वाले संत लोग है जो हमारे लिए हितकारी मार्ग प्रशस्त करते हैं। संसार का रहस्य समझाने का प्रयत्न करते हैं। एक नई दिशा, एक नया बोध देते हैं। वस्तुतः बात यही है कि जिसने धर्म रूपी कील का सहारा ले लिया, रत्नत्रय का सहारा ले लिया तो वह संसार के जन्म-मरण से बच गया।

संसार में आवागमन करते हुए भी जिसने संयम का आधार ले लिया उसको भटकाने या अटकाने वाली कोई शक्ति अब संसार में नहीं है। इतना ही नहीं, दूसरी बात यह भी है कि जहाँ कहीं भी धर्मात्मा पुरुष चला जाता है वहाँ पहुँचने से पहले ही लोग स्वागत सत्कार के लिए तत्पर रहते हैं, और निवेदन करते हैं कि हमारी सेवा मंजूर करके हम सभी को अनुगृहीत कीजिये। धर्मात्मा भले ही कुछ नहीं चाहता लेकिन उसके महान् पुण्य के माध्यम से सभी उसकी प्रशंसा करते हैं। जिनके जीवन में धर्म का सहारा नहीं है, 'खाओ-पिओ मौज उड़ाओ' वाली बात जिनके जीवन में है, उन्हें पग-पग पर पीड़ा उठानी पड़ती है और अनंत काल तक इसी संसार रूपी चक्की में पिसना पड़ता है।

असंयमी का जीवन हमेशा संक्लेशमय और कष्टादायक ही रहता है। जैसे गर्मी के दिनों में आप आराम से छाया में बैठकर प्रवचन का, धर्म का लाभ ले रहे हैं और यदि छाया न हो तो क्या स्थिति होगी? सारा सुख छिन जायेगा। ठीक ऐसी ही स्थिति संयम के अभाव में, धर्म के अभाव में अज्ञानी

प्राणी की होती है। ध्यान रखो, संयोगवश कभी असंयमी जीव देवगति में भी चला जाता है तो वहाँ पर भी संयम के अभाव में प्राप्त हुए इन्द्रिय सुखों के छूटते समय और अपने से बड़े देवों की विभूति को देखकर संक्लेश करता है जिससे अधःपतन ही हुआ करता है और निरंतर दुख सहना पड़ता है।

'विषय चाह दावानल दड्यो, मरत विलाप करत दुख सह्यो।' संसार में जो दुख मिला है वह आत्मा के द्वारा किये गए अशुभ परिणामों का फल है और जो सुख मिला है वह आत्मा के द्वारा किये गये उज्ज्वल परिणामों का फल है। यह संसार एक झील की भांति है जो सुखदायक भी है और दुखदायक भी है। नाव में बैठकर यदि झील को पार किया जाए तो आनंद की लहर आने लगती है किंतु असावधानी करने से सछिद्र नाव में बैठने से प्राणी उसी झील में डूब भी जाता है। इस बात को आप उदाहरण के माध्यम से समझ लीजिये।

एक व्यक्ति के जीवन की घटना है जिसका पालन-पोषण-शिक्षण सब बड़ी सुख सुविधा में हो रहा था। आना-जाना, खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना सब अंडरग्राउंड में ही होता था। वहाँ पर सारी व्यवस्था वातानुकूल, एयरकंडीशन थी। साथ ही वातानुकूल अर्थात् कहे अनुरूप भी थी। उसे सूर्य और बिजली या दीपक का प्रकाश भी चुभता था इसलिए रत्नदीपक के प्रकाश का प्रबंध रहता था। सरसों का दाना भी विस्तर के नीचे आ जाए तो चुभता था, नींद नही आती थी। भोजन भी सामान्य नहीं था, कमल पत्रों पर रखा हुआ चावल का भात बनता था। उसकी माँ थी, पत्नियां थीं, सभी की ओर से सुख-सुविधा का ध्यान रखा जाता था।

पहले कबीर कमाल की बात आपने सुनी, यह बात अब सुकमाल की है। यह सारी की सारी व्यवस्था सुकमाल की माँ ने कर रखी थी कि कहीं बेटा घर से विरक्त न हो जाये। एक दिन रत्नकंबल बेचने वाला आया और जब वह कीमती कंबल राजा नहीं खरीद पाया तो सेठानी ने अर्थात् सुकमाल की मां ने खरीद लिया। पर जब वह मुलायम रत्नकंबल भी सुकमाल को चुभने लगा तो सेठानी ने उसकी जूतियां बनावाकर बहुओं को पहना दी। संयोगवश एक जूती पक्षी उठाकर ले गया और राजा के महल पर गिरा दी। राजा को जब सारी बात ज्ञात हुई तो वह सुकमाल को देखने आया कि देखें सचमुच बात क्या है?

सेठानी ने राजा के स्वागत में जब दीपक जलाया तो सुकमाल की आंखों में पानी आ गया। जब भोजन परोसा तो सुकमाल एक-एक चावल बीनकर खाने लगा क्योंकि साधारण चावल के साथ मिलाकर उस दिन कमल पत्र के चावल बनाये गये थे। राजा सब देखकर चकित रह गया और अचरज करता हुआ लौट गया। कुछ समय बीत जाने के उपरांत एक दिन राज्य में किसी मुनिराज का आगमन हुआ। वे मुनिराज और कोई नहीं सुकमाल के पिता ही थे जो सुकमाल के उत्पन्न होते ही विरक्त होकर वन में चले गये थे। सेठानी ने बहुत प्रयास किया कि मुनि इस नगर में ना आयें पर संयोग ऐसा ही हुआ कि एक दिन रात्रि के अंतिम प्रहर में सामायिक आदि से निवृत होकर महल के समीप उपवन में पधारे उन मुनिराज ने वैराग्य पाठ पढ़ना प्रारंभ किया तो सुकमाल के अंदर ज्ञान की किरण जागृत हो गयी।

रत्नदीपक का किरणें तो मात्र बाहरी देश को आलोकित करती थीं किंतु भीतरी देश को प्रकाशित करने वाली ज्ञान और वैराग्य की किरणें सुकमाल के जीवन में अब जागृत हो गयीं। उन किरणों ने कमाल कर दिया, अज्ञान का अंधकार समाप्त हो गया। इसलिए सुकमाल रात्रि के अंतिम प्रहर में ही चुपचाप उठता है, पत्नियां सब सोई हुई थीं, इधर-उधर देखता है और एक खिड़की के माध्यम से नीचे उतरने की बात सोच लेता है। बिना किसी से कुछ कहे साड़ियों को परस्पर बांधकर खिड़की से नीचे लटका देता है और धीरे-धीरे नीचे उतरना प्रारंभ कर देता है। जिसके पैर आज तक सीढ़ियों पर नहीं टिके, वही रस्सी को संभाले हुए नीचे उतर रहा है। सब कुछ संभव हो जाता है भइया, बस ज्ञान एवं वैराग्य जागृत होना चाहिये। प्रत्येक कार्य संपादित हुआ करते हैं और होते ही रहते हैं, असंभव कोई चीज नहीं है।

जिसके सुख-वैभव की इतनी परकाष्ठा थी कि रत्नकंबल चुभता था, आज वही व्यक्ति नंगे पैरों चला जा रहा है। पगतल लहूलुहान हो गए। कंकर-कांटे चुभते जा रहे थे फिर भी दृष्टि उस तरफ नहीं थी। अविरल रूप से आत्मा और शरीर के पृथक्-पृथक् अस्तित्व की अनुभूति करने के लिए कदम बढ़ रहे थे। वह पगडंडी ढूंढता-ढूंढता एकाकी चला जा रहा है उस ओर, जिस ओर से माँगलिक आवाज आ रही थी। वहाँ पहुँचकर वीतराग मुद्रा को धारण करने वाले एक मुनि महाराज से साक्षात्कार हो जाता है। वह स्वयं भी वीतरागता के प्रति अभिमुख हुआ है, काया के प्रति राग नहीं रहा, भीतर भी रागात्मक विकल्प नहीं है।

जैसे ही मुनिराज के द्वारा उसे ज्ञात हो जाता है कि तीन दिन के उपरांत तो इस शरीर का अवसान होने वाला है। वह सोचता है कि बहुत अच्छा हुआ मैं अंत समय में कम से कम इस मोह-निद्रा से उठकर सचेत हो गया और महान पुण्य के उदय से सच्चे परम वीतराग धर्म की शरण मिल गयी। अब मुझे संसार में कुछ नहीं चाहिये। आत्म-कल्याण के लिए उस उपादेयभूत वीतरागता को प्राप्त करना है जो इस संसार में सर्वश्रेष्ठ और सारभूत है। जिसकी प्राप्ति के लिए स्वर्गों के इंद्र भी तरसते रहते हैं, जिस निर्ग्रंथ मुद्रा के माध्यम से केवल ज्ञान की उत्पत्ति होने वाली है, अक्षय अनंत ज्ञान की उपलब्धि जिस मुनिपद को पाने के बाद होती है, वही मुनि पद उसने पा लिया।

बंधुओं! शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए हमें रागद्वेष, विषय-कषाय आदि सभी वैभाविक परणतियों से हटना होगा, तभी हम उस निर्विकल्पात्मक ज्ञानीपने को प्राप्त कर सकेंगे। उस ज्ञानी की महिमा क्या बताऊँ-

णाणी रागप्पजहो हि सव्व दव्वेसु कम्म सञ्झगदो,
णो लिप्पदि कम्म रयेण दु कद्दम मज्झे जझ कणयं।
अण्णाणी पुण रत्तो हि सव्व दव्वेसु कम्म मज्झगदो,
लिप्पदि कम्मरयेण दुकद्दम मज्झे जहा लोहं।।

आचार्य कुंदकुंद देव कहते हैं कि ज्ञानी वह है जो कर्मों के बीच रहता हुआ भी अपने स्वभाव में रहता है, अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता, जैसे कीचड़ के बीच पड़ा हुआ स्वर्ण अपने गुणधर्म को नहीं छोड़ता, निर्लिप्त रहता हुआ सदा अपने स्वरूप में स्थिर रहता है। जगत तो जगत में रहता है और ज्ञानी जगत में भी जगत (जागृत) रहता है।

ज्ञानी अपने आप में जागृत रहता है और जगत को भी जगाता रहता है। वह बाहर नहीं भागता, वह निरतंर अपनी ओर भागता है। भीतर विहार करना, यही तो 'यथाख्यात विहार विशुद्धि संयम' का प्रतीक है। वह राजकुमार सुकमाल अब मुनि दीक्षा धारण कर लेते हैं और मोक्षमार्ग में स्थित हो जाते हैं। मोक्षमार्ग तो उपसर्ग और परिषहों से गुजरने वाला मार्ग है। अध्यात्म ग्रंथों में आचार्य कुंदकुंद देव और पूज्यपाद स्वामी जैसे महान् आचार्यों ने लिखा है कि जो सुख के साथ प्राप्त हुआ ज्ञान है वह दुख के आने पर पलायमान

हो जाता है और जो ज्ञान कष्ट परीषह झेलकर अर्जित किया जाता है वह अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी वातावरण में स्थायी बना रहता है।

जैसे पौधे को मजबूत बनाना है, उसका सही विकास करना है तो मात्र खाद पानी ही पर्याप्त नहीं है उसे प्रकृति के सभी तरह के वातावरण की आवश्यकता भी है। ऐसा ही मोक्षमार्ग में आत्म-विकास के लिए आवश्यक है। यदि आप सोचते हो कि बीज को छाया में बोने से फसल अच्छी होगी तो ध्यान रखना, बीज अकुंरित हो जायेगा लेकिन फसल पीली-पीली होगी, दाना ठीक नहीं आयेगा। उसे हराभरा होने के लिए सूर्य की तपन भी चाहिये। वह सूर्य की प्रखर किरणों को भी सहन कर सकता है। इसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र को पुष्ट बनाने के लिए उपसर्ग और परीषहों से गुजरने की आवश्यकता पड़ती है। ज्ञान में विकास, ज्ञान में निखार और मजबूती परीषह -जय से युक्त चारित्र के माध्यम से आती है।

आज तक कोई जीव ऐसा नहीं हुआ तो उपसर्ग या परीषह को जीते बिना केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध परमेष्ठी बना हो। भरत चक्रवर्ती को भी सिद्ध पद भलेही अल्पकाल में प्राप्त हुआ लेकिन मुनिपद को धारण किये बिना, सम्यक् चारित्र के बिना नहीं हुआ। उन्हें भी छठे सातवें गुण स्थान में हजारों बार चढ़ना उतरना पड़ा। यह आवश्यक है। अल्पकाल हो या चिरकाल हो, चतुर्विध आराधना के बिना आत्मा का उद्धार होने वाला नहीं है।

संयम को धारण करके वह कोमल काया वाले सुकमाल जंगल में जाकर ध्यान में एकाग्रचित होकर लीन हो गये। वहाँ पूर्वभव के बैर से प्रेरित हुई उनकी भावज जो स्यालनी हो गयी थी, खून के दाग सूँघती हुई पहुँच गयी और वैर के वशीभूत होकर उस स्यालनी ने अपने बच्चों सहित मुनिराज बने सुकमाल की काया को विदीर्ण करना प्रारंभ कर दिया, खाना प्रारंभ कर दिया। "एक स्यालनी जुग बच्चायुत पांव भख्यो दुखभारी।" ऐसा बड़े समाधिमरण पाठ में आता है। उसमें उपसर्ग और परीषह को सहने करने वाले और भी मुनियों का वर्णन किया गया है।

तीन दिन तक यह अखंड उपसर्ग चला जो मुनिराज के लिए स्वर्ग व अपवर्ग (मोक्ष) का सोपान माना जाता है। धन्य है वह जीव जिसको सरसों का दाना चुभता था, वही संहनन, वही काया, सब कुछ वही लेकिन इस प्रकार सहन करने की क्षमता कहाँ से आयी? तो बंधुओ यह भीतरी परिणामों की बात है। भीतरी गहराई में जब आत्मा उतर जाती है तब किसी प्रकार

का बाहरी वातावरण उस पर प्रभाव नहीं डाल सकता। आचार्य वीरसेन स्वामी ने एक स्थान पर लिखा है कि जब एक अनादि मिथ्या-दृष्टि, मिथ्यात्व से ऊपर उठने की भूमिका बनाता हुआ उपशमकरण करना प्रारंभ करता है तो उस समय तीन लोक की कोई भी शक्ति उस पर प्रहार नहीं कर सकती। किसी प्रकार के उपसर्ग का उस पर प्रभाव नहीं पड़ने वाला ओर उपसर्ग की स्थिति में भी उसकी मृत्यु संभव नहीं है।

यह सब माहात्म्य आत्मा की भीतरी विशुद्धि का है। आत्मानुभूति के समय बाहर भले ही कुछ होता रहे, अंदर तो आनंद ही बरसता है। यह आस्था विश्वास का परिणाम है। एकत्व भावना का परिणाम है। वह भावना उस समय कैसी थी कि 'अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाण मइयो सदारूवी, णवि अस्थि मज्झ किंचवि अण्णं परमाणु मित्तंपि।।" अर्थात् मैं निश्चय से एक हूँ दर्शनज्ञान मय हूँ और सदा अरूपी हूँ, अन्य परपदार्थ परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। कैसी परिणामों की निर्मलता है कि स्यालिनी के द्वारा शरीर खाया जा रहा है और मुनिराज आत्मा में लीन है।

आप भी ऐसा कर सकते हैं। थोड़ा बहुत एकाग्र होते भी हैं प्रवचन सुनते हैं।, अभिषेक करते हैं, पूजन करते हैं, स्वाध्याय करते हैं यदि इन सभी क्रियाओं को विशुद्धता पूर्वक संकल्प लेकर करते हैं तो असंख्यात गुणी निर्जरा क्षणभर में होना संभव है। आठ वर्ष की उम्र से लेकर पूर्व कोटि वर्ष तक कोई चाहे तो आठ मूलगुणों का पालन कर सकता है, बारह व्रतों का पालन कर सकता है। इस प्रकार जीवन पर्यन्त निर्दोष व्रतों का पालन करते रहने से एक असंयत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा देशव्रती मनुष्य या तिर्यंच की असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा प्रति समय होती रहती है। असंयत सम्यग्दृष्टि की गुणश्रेणी निर्जरा मात्र सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति काल ही हुआ करती है, अन्य समय में नहीं। लेकिन व्रती के गुणश्रेणी निर्जरा निरन्तर होती है यही संयम का माहात्म्य है।

गणेश प्रसाद जी वर्णी कहा करते थे कि देखो, कोई असंयत सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती है और वह सामायिक कर रहा है तो उससे भी असंख्यात गुणी निर्जरा एक मामूली तिर्यंच पशु जो घासोपयोगी अर्थात जिसका उपयोग घास खाने में लगा है, उसकी हो सकती है, यदि वह पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती है। बड़ा अच्छा शब्द उपयोग में लिया है 'घासोपयोगी' घास खाने में उपयोग लगा है। यह सब किसका परिणाम है? यह सब देश-संयम का

परिणाम है। यहाँ विचारणीय बात तो यह है कि वह तिर्यंच होने की वजह से देश-संयम से ऊपर उठने में सक्षम नहीं है 'लेकिन आप तो मनुष्य हैं' सकल-संयम पालन करने की योग्यता आपके पास है फिर भी आप संयम के इच्छुक नहीं है।

जो सकल संयम धारण कर लेता है उसकी निर्जरा की तो बात ही निराली है। एक महाव्रती मुनि की निर्जरा सामायिक में लीन देशव्रती की अपेक्षा असंख्यात गुणी है। जैसे जौहरी की दुकान में दिन भर में एक ग्राहक भले ही आये लेकिन सौदा होते ही ग्राहक और मालिक दोनों मालामाल हो जाते हैं। ऐसी ही मोक्षमार्ग में महाव्रती की दुकान है। जैसे-जैसे एक-एक गुणस्थान बढ़ता जाता है वैसे-वैसे विशुद्धि बढ़ने के कारण असंख्यात गुणित कर्मों की निर्जरा बढ़ती जाती है। प्रशस्त पुण्य प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग बढ़ जाता है। परिश्रम कम और लाभ ज्यादा वाली बात है।

इसी प्रकार एक-एक लब्धि स्थान बढ़ाते हुए उपसर्ग होने के बाद भी वह मुनिराज सुकमाल स्वामी कायोत्सर्ग में लीन थे। कायक्लेश जैसे महान तप को कर रहे थे। निरंतर आत्मचिंतन चल रहा था। क्लेश की बात ही मन में नहीं थी। बुंदेलखंडी भाषा में काय शब्द 'क्या है' के अर्थ में प्रयुक्त होता है तो कायक्लेश का भाव यही निकलता है कि क्या है क्लेश अर्थात् कोई क्लेश नहीं है। आगम का गहराई से चिंतन मनन करें तो ज्ञात होगा कि अभ्यंतर तप के समान कायक्लेश आदि बाह्य तप भी कर्मनिर्जरा में प्रबल कारण हैं। बाह्य तप भी शुभोपयोगात्मक है और जो शुभोपयोग बंध की अपेक्षा असंख्यात गुणी निर्जरा कराता है, वह परम्परा से मोक्ष का कारण माना गया है। साक्षात् कारण मुक्ति के लिए शुद्धोपयोग है लेकिन उस शुद्धोपयोग का उपादान कारण शुभोपयोग ही बनेगा।

सम्यग्दृष्टि साधक की जो बाह्य तप के माध्यम से निर्जरा होती है वह उसके संयम का परिणाम है। सम्यक्त्व की निर्मलता का परिणाम है। मिथ्यादृष्टि को छहढाला में लिखा है कि वह 'आतम हित हेतु विरागज्ञान; ते लखें आपको कष्टदान'- आत्मा के हितकारी वैराग्य को, तपस्या को कष्टदायी मानता है। वीतराग विज्ञान को कष्ट की दृष्टि से देखता है किंतु सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु प्राणी निर्जरा तत्त्व की ओर देखता है और निर्जरा करता रहता है। संयमी की तो 'होल सेल' दुकान है, करोड़ों की आमदनी एक सैकेण्ड में होती है।

यह है वीतराग विज्ञान का फल जो आत्मानुशासन के द्वारा अपनी शक्ति को उद्घाटित करने वाले सुकमाल स्वामी को प्राप्त हुआ। उनके द्वारा मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ने के लिए जो आत्मिक प्रयोग किया गया वह सफल हुआ। उपसर्ग को जीतकर उन्होंने सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त किया एवं अल्प काल में ही मोक्ष सुख प्राप्त करेंगे। बंधुओं! उसी प्रकार की साधना एवं लक्ष्य बनाकर मंजिल की प्राप्ति के लिए सभी को कम से कम समय में विशेष प्रयास कर लेना चाहिये। ज्ञान को साधना के रूप में ढालकर अध्यात्म को जीवन में लाने का प्रयास करना चाहिये। यह प्रथमानुयोग की कथा हमारे लिये बोधि और समाधि का कारण बन सकती है।

आचार्य समन्तभद्र ने इसीलिए ठीक लिखा है कि 'प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं, चरितं पुराणमपि पुण्यं। बोधि समाधि निधानं बोधति बोधः समीचीनः।।- परमार्थ विषय का कथन करने वाले चरित अर्थात् एक पुरुषाश्रित कथा और पुराण अर्थात् त्रेसठ शलाकापुरुष संबंधी कथारूप पुण्यवर्धक तथा बोधि और समाधि के निधानरूप प्रथमानुयोग को सम्यक् श्रुतज्ञान जानो। आज वर्तमान में यदि हम इस प्रथमानुयोग की कथाओं को पढ़कर अपने वास्तविक स्वरूप को समझकर संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर आत्म-कल्याण करना चाहें तो सहज संभव है। आप भी सुकमाल जैसा कमाल का काम कर सकते हैं। आत्मानुशासित होकर अपना कल्याण कर सकते हैं। धर्म का सहारा लेकर संसार परिभ्रमण से ऊपर उठ सकते हैं।

□ □

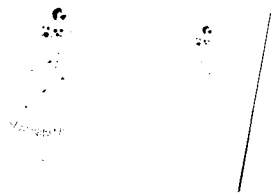

अंतिम समाधान

एक लोहशाला की बात है। लोहार प्रभात में उठकर अपने प्रात:कालीन कार्यक्रमों से निवृत होकर अग्नि-देवता को प्रज्ज्वलित करता है। उसे प्रणाम करता है। (केवल यहाँ पर भाव ग्रहण करना, यह पहले कहे देता हूँ।) फिर लोहे को तपाना प्रारम्भ कर देता है। कुछ समय के उपरांत उस लोह पिण्ड को बाहर निकाल लेता है और निहाई पर रखकर घन का प्रहार करता है। घन का प्रहार करते समय एक आवाज उसके कानों में आती मालूम पड़ती है, मानो अग्नि कह रही है कि- "मुझे इस तरह मत पीटो, मैं कुपित हो जाऊँगी तो सब जलकर राख राख हो जायेगा।"

इस वाणी को सुनकर लोहार मुस्करा देता है और कहता है कि तेरे पास अब वह हिम्मत नहीं रही, जो मुझे जला सको, क्योंकि अब तुम लोहे के अधीन हो और लोह पिण्ड मेरे अधीन है। यदि तुम स्वतंत्र होती तो बार-बार नमस्कार कर लेता लेकिन अब तुम परतंत्र हो गयी हो। लोह की संगति में उसके साथ तुम भी पिटोगी। अग्नि को बात समझ में आ गयी। उसे अपनी गलती महसूस होने लगी। 'संत समागम प्रभुभजन, तुलसी दुर्लभ दोय, सुत दारा अरु लक्ष्मी, पापी के भी होय।' आज तक संसारी प्राणी ने इस दोहे के रहस्य को नहीं समझा। जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए, इस बात पर भी विचार नहीं किया। और न ही इसके अनुरूप अपने जीवन को बनाने का प्रयास किया है। ऐसी संगति का समागम कर लिया है जैसे अग्नि ने लोहे की संगति की और पिटने के लिए मजबूर हो गयी।

संसारी प्राणी देह की संगति में आकर निरंतर संसार में दुखी हो रहा है और इस संगति को अच्छा समझकर छोड़ना नहीं चाह रहा है। जब देह छूटने लगती है तो देह को अक्षुण्ण बनाये रखने के उपाय करता है। संतो की वाणी निरंतर समझाती है कि श्रेष्ठ समागम करो, अपने आत्मा का समागम करो तुम स्वयं अरिहंत हो सकते हो, तुम स्वयं सिद्ध हो सकते हो, परमात्मा हो सकते हो, आंखें खोलो और देखो कौन सी वस्तु पूज्य है और आज किसे आदर दिया जा रहा है।

भारतीय संस्कृति में वह वस्तु पूज्य है जिसके पास ज्ञान है, जिसके पास संवेदना है और जो चैतन्य पिण्ड है, जिसमें परमात्म दशा प्रकट हो गयी है।

इतना ही नहीं, ऐसी पूज्य बनने की योग्यता प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है, यह बात भी संतो ने कह दी है। वर्तमान में जिस प्रकार लोहे की संगति से लोहार के द्वारा अग्नि की पिटाई हो रही है उसी प्रकार अज्ञानता के कारण और मोह के प्रभाव से यह आत्मा संसार में रुल रही है। जब तक आत्मा देह की संगति करेगी तब तक उसकी पिटाई होगी।

संत लोग करुणा करके स्वयं लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए, जो लक्ष्यहीन जनता है, जो सुख की चाह रखती है उसे दिशाबोध देते हैं ताकि सही रूप से लोगों का मार्ग प्रशस्त हो। भारत की यही विशेषता है कि यहाँ के संतो ने मात्र ज्ञेय पदार्थों की कद्र नहीं की बल्कि ज्ञान की कद्र की। दृश्य जगत की नहीं, दृष्टा-पुरुष की कद्र की है। यहाँ भोग्य पदार्थ की नही भोक्ता आत्मा की कद्र है। यहाँ की संस्कृति का एकमात्र यही लक्ष्य है कि 'स्व' को पहचानो व उसे पाने का प्रयास करो। वही शक्ति अद्वितीय है जिसके द्वारा जीवन का सारा का सारा संचालन हो रहा है। यह ऐसी शक्ति है जिसका कभी नाश नहीं हुआ और न होगा।

भारतीय संस्कृति इसी 'स्व-शक्ति' की उपासना सिखाती है। लेकिन आज प्रत्येक पदार्थ का मूल्यांकन हो रहा है, उसकी कीमत आंकी जा रही है पर मूल्यांकन करने वाले का मूल्य नहीं रहा। ज्ञान के द्वारा आविष्कृत ज्ञेय पदार्थों का मूल्य तो हम जानते हैं लेकिन ज्ञान का मूल्य नहीं रहा। ज्ञान का मूल्य आंकने वाला ज्ञान क्षीण होता चला जा रहा है। इसी को बोलते हैं भौतिकवाद।

यह भौतिकवाद का ही प्रभाव है कि ज्ञान को न पूज करके, ज्ञान के द्वारा बनाया गया पदार्थ पूजा जा रहा है। जैसे-जैसे भौतिकवाद बढ़ रहा है वैसे-वैसे अध्यात्मवाद घटता जा रहा है। ज्ञान को छोड़कर और ज्ञानी को छोड़कर मात्र ज्ञेय की उपासना करना, महान दुर्भाग्य की बात है। जो जड़ पदार्थ हैं उसे मूल्य नहीं देना चाहिये बल्कि उस ज्ञान को मूल्य देना चाहिये जिसके द्वारा आत्मा को शान्ति मिलती है। जो ज्ञान विश्व को शांति प्रदान कर सकता है, जो ज्ञान परतंत्रता से छुड़ाकर स्वतंत्रता की ओर ले जाता है, जो ज्ञान हमें मुक्ति तक ले जाता है उसी ज्ञान की पूजा हमें करनी है।

काँच के पीछे दौड़ने वाला वह युग कंचन को भूल गया है। ध्यान रूपी अग्नि के माध्यम से उस आत्म-तत्त्व की उपलब्धि होती है जो कंचन के समान उज्ज्वल है। जो हीरे के समान कीमती है। अनमोल है। शरीर तो एकदिन अग्नि में जल ही जाना है जो अजर-अमर अविनाशी आत्म-तत्त्व

है वही शेष रहने वाला है। आज कौन इसका मूल्यांकन कर रहा है? बहुत कम विरले ही लोग आत्म-तत्त्व की ओर अग्रसर हैं।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारी दिशा बदल जाए। हमारा ज्ञान जिस ओर भाग रहा है उसे सही दिशा बोध मिल जाए। यह बोध हो जाये कि शांति बाह्य भोग्य पदार्थों में नहीं है, वस्तुओं के संग्रह में नहीं है; शांति तो आत्म-तत्त्व की ओर आने में है, उसे पाने में है। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को इस तथ्य का बोध जीवन के अंत समय में हुआ कि जिसके द्वारा दुख होता है वह असत्य है। सत्य तो वह है जिसके द्वारा आत्मोत्थ सुख होता है।

इस सुख को पहचानने के लिए जड़ पदार्थों की संगति छोड़नी होगी। चेतन की संगति में जाना होगा। सज्जनों की संगति में रहना होगा। जड़ पदार्थों की संगति की अपेक्षा एक पागल व्यक्ति की संगति भी कभी-कभी श्रेष्ठ होती है। उससे भी कोई दिशाबोध लेना चाहे तो मिल सकता है। वह कभी अच्छे कपड़े नहीं मांगता। मान-अपमान में कभी हर्ष विवाद नहीं करता। आप पागल बन जाओ मैं ये नहीं कह रहा हूँ, उसकी वृत्ति से सीखने की बात कर रहा हूँ। जड़ पदार्थ की अपेक्षा उस चेतन तत्त्व की संगति लाभदायक ही है। जड़-पदार्थों की संगति से जीवन में कितनी आकुलताएं और वेदनाएं बढ़ती चली जा रही हैं, यह बात सभी जानते हैं।

जड़ वस्तुओं की पूजा उपासना करना अर्थात् उसके संचय में दिन-रात लगे रहना, यह सबसे बड़ी मूर्खता है। भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जहाँ पर अध्यात्म की पूजा होती है। धन तेरस के दिन लोग धन-सम्पत्ति की पूजा करते हैं, यह ठीक नहीं है। उस दिन तो भगवान मुक्ति से पूर्व समवशरण रूपी वैभव को छोड़कर योग-निरोध के लिए चले गये थे। वह धनतेरस न होकर धन्य-तेरस कहलाती है। भैया, भौतिकवादी मत बनो। धन की पूजा पतन के गर्त में ले जाने वाली है। आत्मा की पूजा, गुणों की पूजा करना ही वास्तव में श्रेयस्कर है, यही अध्यात्मवाद है। अपनी आत्मा को प्राप्त करके जो जीव परमात्मा बन गये हैं उनकी पूजा, उनकी संगति हमें संसार से पार ले जाने वाली है।

संगति का असर गहरा होता है। एक मेघ का टुकड़ा आकाश में यहाँ से वहाँ डोल रहा है। वही वातावरण पाकर जल बनकर बरसने लगता है। वह बरसता हुआ शुद्ध जल नीचे आकर धूल में मिल जाये तो कीचड़ का रूप ले जाता है। यदि समुद्र में गिरे तो लवण का रूप ले लेता है। नीम की जड़ में जाकर वही जल की धारा कड़वेपन में बदल जाती है। इक्षुदण्ड (गन्ना)

में पहुँच जाये तो मिठास का रूप धारण कर लेती है। यदि वही जल की धारा स्वाति नक्षत्र में समुद्र में पड़े सीप में चली जाती है तो मोती बन जाती है। सर्प के मुख में जाकर वही विष भी बन सकती है। धारा एक ही है लेकिन संगति का प्रभाव अलग-अलग रूप में उसे परिवर्तित कर देता है। जल का विकास यहाँ तक संभव हुआ कि मुक्ता बन गया। सीप की संगति का यह प्रभाव है।

आत्मा का भी यही हिसाब है, वह धर्म की सीप में पहुँच जाये तो मुक्त हो जाती है। उपादान में योग्यता है लेकिन निमित्त पाकर ही वह उद्घाटित होती है। पुरुषार्थ के अभाव में आपका उपादान कड़वी नीम में भी परिणत हो सकता है। कीचड़ के रूप में परिणत हो सकता है। जहर की तरह विषाक्त भी बन सकता है। उसकी कोई परणति नियामक नहीं है, बनाने वाला चाहिये। निमित्त बनाकर वह उसे किसी भी रूप में ढाल सकता है। बड़ी सावधानी की आवश्यकता है।

यदि आप अपने जीवन को मौलिक बनाना चाहते हो तो साधना की व संत्संगति की बड़ी आवश्यकता है। साधना पूर्ण हो जाने पर अनंत काल के लिए विश्राम है लेकिन साधना में तो परिश्रम करना होता है, आराम तभी मिलेगा। संसारी प्राणी देह को विश्राम मिलने पर उसी को आराम समझ लेता है। वह समझ की कमी है। सच्चा आराम तो आत्मा को संसार से मुक्त होने पर ही मिलता है। शरीर को माध्यम बनाकर आत्मा को संसार से मुक्ति की ओर ले जाना, यही हमारी संस्कृति है। जड़ पदार्थ जीवन नहीं है, वह जड़ है। हम चेतन हैं, हमारा जीवन उसके लिए नहीं है वह हमारे जीवन के लिए है।

कई लोग जो भौतिक जगत में काम कर रहे हैं वे आत्मा का रहस्य हमसे पूछते हैं। जिसे आंखों के द्वारा देखा नहीं जा सकता, किसी अन्य इंद्रिय के द्वारा भी ग्रहण नहीं किया जा सकता उस अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व की बात सहज ही समझ में नहीं आयेगी। आप पहले अध्ययन करते हैं, ग्रेजुएट और पोस्टग्रेजुएट तक पढ़ते हैं, उसके उपरान्त ही शोधकार्य होता है। वर्षों अध्ययन के उपरान्त भी शोध में सफलता नहीं मिलती। इसी प्रकार किसी भी चीज की अनुभूति करने में बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। प्रकृति में सब ओर जीवन है। पर उसमें जीवतत्त्व को पहचान पाने के लिए साधना से प्राप्त दिव्य आँख चाहिये।

पहले लोग वनस्पति को जड़ मानते थे, अचेतन मानते थे। अब वनस्पति पेड़-पौधों को भी जीव मानने लगे हैं। जगदीशचंद वसु ने इस बात को प्रयोगों के द्वारा उद्‌घाटित किया। जीवत्व तो पहले भी था लेकिन हमारा ज्ञान उसे देख नहीं पाता तो हम कह देते हैं कि नहीं है। जीवात्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। संवेदन-शीलता हो तो फिर सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

माली ने बगीचा लगाया है। भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधे लगाये हैं। सभी में फूल खिले हैं। चारों ओर सौरभ फैल रही है। पवन उस सुगंध को दूर-दूर तक ले जा रहा है। माली का काम है पौधों को सिंचित करना, उनकी सुरक्षा करना। सभी को ठीक से संभालना। ज्यों ही माली बगीचे में उन पौधों के पास पहुँच जाता है वे पौधे भी हिलमिल कर उछलकूद करते मालूम पड़ते हैं। वे माली की भावनाओं को पहचानते हैं। माली भी फूलों को प्यार देता है। माली के अलावा और भी बहुत सारे लोग बगीचा देखने आते हैं, तब उन फूलों को संदेह होता है कि कहीं यह मुझे क्षति नहीं पहुँचा दें। कोई भी व्यक्ति फूल को उस पौधे पर मुस्कराते हुए नहीं देखना चाहता सभी अपने हाथ में लेना चाहते हैं और तोड़ भी लेते हैं।

जीव-विज्ञान बहुत सूक्ष्म है। समग्र वायुमंडल में तरंगायित है भावना। हमने भले ही फूल को हाथ नहीं लगाया, केवल तोड़ने की भावना की है तो भी वह फूल जान लेता है कि यह मेरे लिए हितकारी नहीं है। मुझे स्वतंत्रता देने वाला कौन है। मेरा शुभचिंतक और हितेषी कौन है? और कौन मेरे आनंद को छीन लेने वाला है। उस फूल को यह सब ज्ञान है। हित को जानना और अहित से बचना यह प्रत्येक जीव का लक्ष्य है। यह बात अलग है कि कौन लक्ष्य तक पहुँच पाता है, कौन नहीं पहुँच पाता। फूल पत्तों के पास, पेड़-पौधों के पास पैर नहीं हैं कि वे किसी की पकड़ से भाग निकले। पर उनकी भावनाएं तो हैं। उन्हें भी सुख-दुख का अहसास होता है।

जो इन्हें तोड़ता है उसके प्रति उनमें भी घृणा का भाव होता है। उन्हें लगता है कि देखो जब तक मैं खिला नहीं था तब तक तो कोई नहीं आता था; ज्यों ही मैं खिला और आनंद से झूमने लगा त्यों ही यह लोग मेरे आंनद को छीनकर अपने आप को संतुष्ट बनाने का प्रयास करने लगे। जब माली आता है तो उनकी दशा अलग हो जाती है और कोई दूसरा व्यक्ति आता है तो उनकी दशा बदल जाती है। यह दशायें एक ही फूल में भिन्न-भिन्न प्रकार से क्यों होती हैं? तो इतना तो ज्ञात हो गया है कि इनमें भी जीवन

है, ज्ञान है, संवेदना है। लेकिन अभी और जानना शेष है। जीवतत्त्व इतना ही नहीं है।

एक बार की बात है। बहुत दिन हो गए। मैंने बचपन में एक चलचित्र देखा था जिसमें दिखाया गया था कि गीत के माध्यम से कैसे कमल खिल जाते हैं। संगीत के माध्यम से दीपक जलाया जाता है। जीवन को संगीत के माध्यम से आनंद विभोर किया जाता है। शब्दों में ऐसी शक्ति है, ऐसा बल है जिसके माध्यम से पेड़-पौधे भी आनंदित होते हैं। वे भले ही सुने या न सुनें किंतु शब्द के माध्यम से आपकी भावना उन तक पहुँच जाती है। भाव तरंगें वे पकड़ लेते हैं। एक आनंद से उठा हाथ व्यक्ति को अभय का अनुभव करा सकता है और दूसरा क्रोध से उठा हाथ व्यक्ति को भयभीत कर देता है।

हमारे भावों की तरंगें वायुमंडल में तरंगायित हो कर हम जहाँ पहुँचाना चाहें वहाँ पहुँचा सकते हैं। आज का युग इस बात को स्वीकार करता है। ग्रामोफोन, टेपरिकार्डर और टेलीफोन के उपरांत अब तो टेलीविजन भी आ गया जहाँ शब्दों के साथ व्यक्ति का चित्र भी दिखाई देता है। पहले मूक फिल्म चलती थीं, बोलते नहीं थे, मात्र एक्शन के माध्यम से समझ में सब आता था कि कहना क्या चाहते हैं। यह सार भौतिक साधन तो पराश्रित है। टेलीपैथी सबसे श्रेष्ठ माध्यम है। सम्प्रेषण एक कला है। जिसमें तन भी शांत हो जाता है और मन भी शांत हो जाता है। यह स्वाश्रित है। जैनाचार्यों ने हजारों वर्ष पूर्व इनका उल्लेख किया है। परामनोविज्ञान आज इस पर खोज कर रहा है।

इतना अवश्य कहना होगा कि जहाँ भौतिकवाद विश्रांत हो जाता है जहाँ जाकर मनो-विज्ञान भी ठहर जाता है वहाँ से अध्यात्म का प्रारंभ होता है। आत्मा को निकट से जानना एकदम आसान नहीं है। और दूसरे के साथ तादात्म्य जोड़ना, अपनी भावना उस तक पहुँचाना भी आसान नहीं है। जिसने अपनी भाव प्रणाली को सूक्ष्म रूप से जान लिया है वही सम्प्रेषण कर सकता है। ज्ञान के माध्यम से वह सामने वाले की वेदना को समझ लेता है। सम्वेदना को अनुभूत कर लेता है। आज के वैज्ञानिकों ने इसकी फोटो लेने का प्रयास किया है।

जिसने अपने मन को संयत कर लिया है, इन्द्रियों से ऊपर उठकर मानसिक सफलता पा ली है, जो तामस वृत्ति से ऊपर उठ चुका है, वही इस बात का अनुभव कर सकता है। भावनाओं को ठीक-ठीक समझ सकता है। इसकी पृष्ठ भूमि है समता। जिसका ज्ञान पंचेन्द्रिय के विषयों से आकर्षित

है वह व्यक्ति मन के माध्यम से विकास की ओर न जाकर विनाश की ओर ही जाता है। समता का विलोम तामस ही तो होता है। तामसता जिसमें अंत को प्राप्त हो जाए उसे संत कहेंगे। संत की व्याख्या यही तो है कि जो समता से भरा है और आत्म-कल्याण के साथ-साथ प्राणी मात्र के कल्याण की भावना रखता है। भावनाओं में कितना बल है इसका उदाहरण या कहें एक सत्य घटना आपको ज्ञात होगी।

एक राजा और उसके साथी वन में घूमने के लिए गए। राजा के मन में आया कि किसी न किसी जानवर का शिकार करूँ, किंतु उस दिन कोई जानवर नहीं मिला। भटकते-भटकते अचानक एक हिरणों का समूह उन्हें कुछ दूर दिखाई पड़ा और राजा ने घोड़े को उनके पीछे भगाना प्रारंभ कर दिया। तीर कमान हाथ में था। वह दृश्य देखकर साथ में चल रहे साथी दीवान को ठीक नहीं लगा उसने सोचा कि भोले-भाले हिरणों जैसे निरपराध पशुओं के ऊपर यह अत्याचार ठीक नहीं है। इनकी रक्षा करना ही राजा का धर्म है पर आज वही इनका भक्षक बन रहा है। ऐसा विचार आते ही उस दीवान ने आवाज दी कि हे अनाथ हिरणों। ठहर जाओ। तुम्हारे इस समय भागने का कोई मतलब नहीं है। आज जब रक्षक ही तुम्हारा भक्षक बन रहा है तो तुम कहाँ जाकर अपने प्राण बचाओगे, तुम्हारा भागना व्यर्थ है।

ज्यों ही यह करुण भावनाओं से भरी आवाज हिरणों के कानों में पहुँची त्यों ही वे रुक गये। राजा चकित हो गया और तीर कमान चलाना भूलकर अपने साथी दीवान की ओर देखने लगा। वह सोच में डूब गया कि यह क्या मामला है। इसकी वाणी का यह कैसा चमत्मकार है। भागते पशुओं का शिकार खेलना तो फिर भी ठीक है लेकिन इन ठहरे हुए पशुओं को कैसे मारूँ। लड़ाई तो तभी उचित है जब चुनौती हो। सामने वाला बिना लड़े ही हार मान ले तो क्या लड़ाई। राजा विचार में डूबा खड़ा रह गया। साथी से पूछा कि बात क्या है, ये रुक कैसे गये।

साथी ने कहा-राजन्! यह रुक गये हैं। आप व्यर्थ भाग रहे थे, अब चाहे तो शिकार करिये। राजा ने कहा कि नहीं पहले मैं यह जानना चाहता हूँ कि ये रुके कैसे? जीने की आशा ही छोड़ दी इन्होंने। अब बिल्कुल भय छोड़कर इतने पास आ गए, पहले तो काँप रहे थे, अब आनंद के साथ खड़े हैं। यह बात क्या हुई? इनके कानों में तुमने क्या मंत्र फूंक दिया। जब दो तीन बार बड़ी उत्कंठा से राजा ने चकित होते हुए पूछा तो साथी ने कहा

-आप सुनना चाहते है तो सुनिए। इन्हें रोकने में कारण है प्रेम की शक्ति। अहिंसा की शक्ति। दया और करुणा की आवाज।

राजन्! आप अपने पद की ओर जरा ध्यान दें। आपका कर्त्तव्य है प्रजा की रक्षा करना, प्रजा का पालन करना। आपने अपने हाथ में धनुष और वाण जो लिया है वह निरपराध पशुओं की हिंसा के लिए नहीं बल्कि उनकी रक्षा के लिए होना चाहिए। राजगद्दी पर बैठते समय आपने संकल्प लिया था कि अनाथ दीन-हीन प्राणियों की रक्षा करूँगा। क्या आप अपनी क्षत्रियता भूल गये।

राजा वह सब सुनकर चुप रह गया। उसने बात को समझने की दृष्टि से पुनः पूछा कि तुम्हारी वाणी उन्हें कैसे समझ में आ गयी। साथी ने कहा कि दया की पुकार, रक्षा की पुकार सभी के समझ में आती है। वह कान के बिना भी, वाणी के बिना भी, मात्र भावों से भी समझ में आ जाती है। समझने के लिए संवेदना चाहिये। राजा ने किसी को नहीं मारा और उस दिन वह महल की ओर चला गया पर मन ही मन अपना अपमान महसूस करता रहा।

कुछ दिन के उपरांत राजा ने एक आदेश दिया कि एक शेर लाया जाये और शेर को पिंजरे में बंद करके पांच-छह दिन तक भूखा रखा जाये। फिर हम परीक्षा करेंगे कि अहिंसा की शक्ति कितनी है। तारीख निश्चित कर दी। समस्त प्रजाजन और दरबारीगण उपस्थित थे। राजा ने दीवान को बुलाकर कहा कि अगर अहिंसा में बल है तो तुम इस सिंह को शाकाहारी बनाओ। दीवान ने कहा ठीक है- आप देख लीजिए। अहिंसा में बल है। एक जीव दूसरे जीव को अभी भी चाहता है। हिंसक से हिंसक पशु भी अहिंसा की भाषा पहचानता है। पर अहिंसा की पुकार लगाने वाला व्यक्ति निर्विकार होना चाहिये।

विकार से विकार टकराता है। विकार का और निर्विकार का संघर्ष नहीं होता। निर्विकार से यदि विकार टकराता भी है तो विकार हारकर नीचे चला जाता है, निर्विकार ऊपर आ जाता है। घी में घी मिलाओ तो मिलता चला जायेगा लेकिन घी में दूध मिलाओ या पानी मिलाओ तो घी ऊपर आ जायेगा। आप कितना भी उसे नीचे दबाओ वह ऊपर उठ जायेगा। घी विकार से प्रभावित नहीं होता। अहिंसा, हिंसा से नहीं हारती बल्कि अहिंसा के सामने हिंसा को हार माननी पड़ती है।

दीवान ने सिंह के पिंजरे का दरवाजा खोला और भीतर चला गया और सिंह के सामने जलेबियां और दूध रखकर कहा कि हे वनराज! यदि भूख मिटानी है तो ये जलेबियां खाकर और दूध पीकर मिटा लो और यदि माँस ही खाना है मैं उपस्थित हूँ। मुझे अपना आहार बना लो। सिंह ने दीवान की ओर दृष्टि डाली और दीवान की आँखों में असीम वात्सल्य देखकर चुपचाप जलेबियां खा लीं और शांत भाव से एक ओर बैठ गया। देखने वाले सभी चकित रह गये। राजा हाथ जोड़कर खड़ा हो गया कि वास्तव में अहिंसक परिणामों में अद्‌भुत शक्ति है। हम अपने भावों की निर्मलता के द्वारा पेड़ पौधों और पशुओं, सभी के ऊपर प्रभाव डाल सकते हैं। इसी को बोलते हैं आत्मीयता।

हमारे पास यह आत्मीयता की शक्ति विद्यमान है लेकिन धीरे-धीरे अस्त होती चली जा रही है। यह दुख की बात है। वस्तुतः यदि आप विश्व में शान्ति चाहते हैं या आत्म-शांति चाहते हैं तो दयाधर्म का अनुपालन करना होगा। जीव तत्त्व की तलस्पर्शी खोज करनी होगी। उसे पहचानना होगा। उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करना होगा। इसी के माध्यम से सारे समाधान मिल सकते हैं।

यह घटना दीवान अमरचंद जी के साथ जयपुर में घटी थी। ऐसी घटनाएं समय-समय पर घटती रही है। घटना ज्यादा पुरानी नहीं है किंतु भौतिकवाद का विस्तार इतना बढ़ गया है कि अब उस ओर कोई गौर भी नहीं करता। विज्ञान भी इसे सत्य मानता है कि हजारों वर्ष में जो काम नहीं हो सकता वह इस प्रकार के संयत और अहिंसक मन के द्वारा अल्पकाल में संभव है। मन को संयत करने के लिए निर्विकार बनना आवश्यक है। समता लाना आवश्यक है। आप तामस का विलोम कर दीजिये अर्थात् तामस को जीवन से हटा दीजिये। समता जीवन में आने लगेगी। यही मोक्ष की उपलब्धि का सूत्रपात्र है।

□□

ज्ञान और अनुभूति

अक्षय तृतीया से जो यह श्रुत की वाचना का मंगल कार्य प्रारंभ हुआ था वह इस मंगलमय श्रुतपंचमी के अवसर पर सानंद सम्पन्न हुआ। आत्मा के पास यही एक ऐसा धन है जिसके माध्यम से धनी कहलाता है। जब यह श्रुतरूपी धन जघन्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है तो वह आत्मा दरिद्र हो जाता है। आगम ग्रंथों की वाचना के समय निगोदिया जीव का प्ररूपण करते समय जो बताया गया उसे सुनकर लग रहा था कि आत्मा का यह पतन निगोद में अंतिम छोर को छू रहा है।

लेकिन दरिद्रता का अर्थ धन का अभाव होना नहीं है बल्कि धन की न्यूनता या अत्यधिक कमी होना है। एक पैसा भी पैसा है, वह रुपये का अंश है। रुपया वह भले ही न हो लेकिन रुपये की प्राप्ति में सहयोगी है। इसी प्रकार ज्ञान का पतन कितना भी हो किंतु जीव में कभी ज्ञान का अभाव नहीं हो सकता। यदि वास्तव में ज्ञान को धन मानकर हम उसका संरक्षण और संवर्धन करें तो आत्मा की ख्याति बढ़ती चली जायेगी। आत्मा में प्रकाश आ जायेगा कि वह विश्व को भी प्रकाशित कर देगा।

श्रुत पंचमी के दिन अपने चिंतन के माध्यम से श्रुत के बारे में बात समझनी चाहिये। स्पर्शन इन्द्रिय का विषय आठ प्रकार का स्पर्श है, रसना इन्द्रिय का विषय पांच प्रकार का रस है, घ्राण इन्द्रिय का विषय दो प्रकार की गंध है, चक्षु इन्द्रिय का विषय पांच प्रकार का रूप है और श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है शब्द। पांचों इन्द्रियां हमारे पास हैं, लेकिन सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये जब पंडित जी. (पं कैलाशचन्द जी सिद्धांत शास्त्री बनारसी) वाचना कर रहे थे प्रातः काल, तब जयधवलाकार ने बहुत अच्छे ढंग से कहा कि पांच इन्द्रियों का होना आवश्यक है, पर इतना ही पर्याप्त नहीं है।

शब्द सुनने के लिये कान पर्याप्त हैं लेकिन तद्‌विषयक जानकारी के लिए श्रुत के लिए मन आवश्यक है। श्रुत मन का विषय है। मन लगाकर जब हम शब्दों को सुन लेते हैं तब कहीं जाकर आचार्यों के भाव हमारे समझ में आते हैं। मन लगाने का पुरुषार्थ अनिवार्य है। केवल वक्ता अपनी बात को रखता जाये और श्रोता मात्र सुनता जाये, मन न लगाये तो कल्याण संभव नहीं है।

यहाँ अभी-अभी कई लोगों ने कहा कि वह वाचना जो हुई है पंडित जी ने अच्छे ढंग से इसे सुनाया है। यह सारा का सारा शब्द ही तो है जो कानों से सुनने में आया है। शब्द पढ़ने में नहीं आ सकते, पढ़ने में जो आते हैं वह केवल उन शब्दों के संकेत है और ये संकेत सारे के सारे अर्थ को लेकर हैं। श्रुतभक्ति में आया है- "अरिहंत भासियत्थं गणधर देवेहिं गंथियं सम्मं, पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाण महोवयं सिरसा।।" अर्थात् अरिहंत परमेष्ठी के द्वारा अर्थ रूप श्रुत का व्याख्यान हुआ है और इसे गणधर देव ने गूँथकर ग्रंथ का रूप दिया है। ऐसे महान् श्रुत को भक्ति पूर्वक मस्तक झुकाकर हम प्रणाम करते हैं। अर्थ हमेशा अनन्तात्मक होता है और अनंत को ग्रहण करने की क्षमता हमारे पास नहीं है, उस अनंत को हम सुन नहीं सकते। मात्र शब्द सुनने में आ जाते हैं। शब्द इस अनंत अर्थ को अभिव्यक्त करने में सहायक बनते हैं। अनंत की अभिव्यक्ति श्रुत के द्वारा शब्दों के माध्यम से की जाती है।

बहुत छोटी सी किताब है लेकिन इसके अर्थ की ओर जब देखते हैं तो लोक और अलोक दोनों में जाकर भी हमारा ज्ञान छोर नहीं छू पाता। वह ज्ञेय रूपी महासागर जिसके ज्ञान में अवतरित हो जाता है वह समाधिस्थ हो जाता है। उस ज्ञान की महिमा अपरम्पार है। उस अर्थ की प्राप्ति के लिए जो परमार्थभूत है, यह सब संकेत दिये गये हैं। इन संकेतों को सचेत होकर यदि हम पकड़ लेते हैं तो ठीक है अन्यथा कुछ नहीं है। जिसका मन मूर्छित है अर्थात् पंचेन्द्रिय के विषयों से प्रभावित है वह इन संकेतों को पकड़ कर भी भावों में अवगाहित नहीं हो पाता। अंतर्मुहूर्त के भीतर वह जो सर्वार्थसिद्धि के देव हैं, उन्हें भी जिस सुख का अनुभव नहीं हो सकता, उससे बढ़कर सुख का अनुभव एक संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य, जो संयत है या संयतासंयत है, वह अनुभव कर रहा है।

जैसे सूर्य प्रकाश देता है और प्रकाश से कार्य होता है किंतु सूर्य के प्रकाश देने मात्र से हमारा कार्य पूरा नहीं होता। सूर्य का प्रकाश पाकर हमें स्वयं पुरुषार्थ करना होगा। दूसरी बात, प्रातः कालीन सूर्य जब किरणें फेंकता है तब हमारी छाया विपरीत दिशा में पड़ती है और सांयकाल जब अस्ताचल में जाता है तब भी हमारी छाया विपरीत दिशा में पड़ती है लेकिन वही सूर्य जब मध्यान्ह में तपता है तब हमारी छाया 'पर' पदार्थों की ओर न जाकर हमारे चरणों में ही रह जाती है। यही स्थिति श्रुत की है। जब हमारा श्रुतज्ञान

बाह्य पदार्थों में न जाकर आत्मस्थ हो जाता है तभी ज्ञान की उपलब्धि मानी जाती है। हम मध्य में रहें और मध्यस्थ रहें तो यह मध्यान्ह हमारे जीवन के लिए कल्याणकारी है।

जब तेज धूप पड़ती है और पंडित जी (पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर) बार-बार कहते हैं कि महाराज बाहर बहुत ततूरी है। ततूरी का अर्थ बहुत अच्छा उन्होंने बताया था। मुझे मालूम नहीं था कि ततूरी का अर्थ इतना गम्भीर है। तप्त+उर्वी=तप्तूर्वी (ततूरी)। जिस समय उर्वी अर्थात् पृथ्वी तप जाती है उस समय बोलते हैं, बहुत ततूरी है। इस ततूरी के समय मध्यान्ह में किसान लोग गर्मी के दिनों में भी शान्ति का अनुभव करते हैं। शान्ति का अनुभव इसलिए करते हैं कि अब मृगशीलता आ गयी और कुछ दिन के उपरांत वर्षा आयेगी, बीज बायेंगे, फसल लहलहायेगी। यदि अभी धरती नहीं तपेगी तो वर्षा नहीं आयेगी।

इसी प्रकार जब तक श्रुत के साथ हम समाधिस्थ होकर अपने को नहीं तपायेंगे तबतक अनंत केवलज्ञान रूपी फसल नहीं आयेगी। जिस समय श्रुत आत्मस्थ हो जायेगा तब आत्मा नियम से विश्रुत हो जायेगी। विश्रुत का अर्थ है विख्यात होना। तब आत्मा की तीन लोक में ख्याती फैल जायेगी। तीन लोक में उसी की ख्याति फैलती है जो संपूर्ण श्रुत को पीकर के विश्रुत हो गया। विश्रुत का दूसरा अर्थ श्रुतभाव या श्रुत से ऊपर उठ जाना भी है। जो श्रुत से ऊपर उठे हुए हैं वे ही केवलज्ञानी भगवान तीन लोक में पूज्य है।

श्रुतज्ञान वास्तव में आत्मा का स्वभाव नहीं है किंतु आत्म-स्वभाव पाने के लिए श्रुतज्ञान है। उस श्रुतज्ञान के माध्यम से जो अपने आपको तपाता है, वह केवल ज्ञान को उपलब्ध कर लेता है। श्रुतज्ञान तो आवरण में से झांकता हुआ प्रकाश है। जब मेघों का पूर्ण अभाव हो जाता है तब जो सूर्य अपने सम्पूर्ण प्रकाश के साथ बाहर दिखने लगता है, ऐसा ही वह केवलज्ञान है। श्रुतज्ञानावरणी कर्म का जब पूर्ण क्षय होगा। तब आत्मा में एक नई दशा उत्पन्न होगी, इसी दशा को प्राप्त करने के लिए यह श्रुत हैं

'श्रुतमनिन्द्रियस्य' मन का विषय श्रुत है। मन को अनंग भी बोलते हैं वह भीतर रहता है, उसके पास अंग नहीं है, किंतु वह अंग के भीतर अंतरंग होता है। इसी अंतरंग के द्वारा ही सब कार्य होता है। यदि अंतरंग विकृत हो जाए और बहिरंग साफ सुथरा रहे तो भी कार्य नहीं होगा। जिसका अंतरंग

शुद्ध होगा उसके लिए श्रुत अंतर्मुहूर्त में पूरा का पूरा प्राप्त हो जाता है। अंतर्मुहूर्त में ही उसे कैवल्य भी प्राप्त हो सकता है। वर्तमान में यह अवसर्पिणी काल होने से श्रुत निरंतर घटता चला जा रहा है। वह समय भी आया जब धरसेन आचार्य के जीवन काल में एक-एक अंग का अंश ज्ञान शेष रह गया और आज उसका शतांश क्या, सहस्रांश भी शेष नहीं रहा।

आज सुबह पढ़ लेते हैं, शाम को पूछो तो उसमें से एक पंक्ति भी ज्यों की त्यों नहीं बता सकते। थोड़ा सा मन इधर-उधर चला गया, उपयोग फिसल गया तो कहीं के कहीं पहुँच जाते हैं। क्या विषय चल रहा था, पता तक नहीं पड़ता। हमारे पूर्वमें हुए आचार्यों की उपयोग की स्थिरता, उनका श्रुत के प्रति बहुमान आदि देखते हैं तो उसमें से हमारे पास एक कण मात्र भी नहीं है, किंतु भाव-भक्ति और श्रद्धा ही एकमात्र हमारे पास साधन है। यह श्रद्धा-भक्ति हमें नियम से वहीं तक ले जाएगा जहाँ तक पूर्व आचार्य गये हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने समयसार में कहा है कि 'सद्दोणाणंणहवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि, तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिण्णा विंति।' अर्थात् शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ भी नहीं जानता इसलिए शब्द भिन्न है, ज्ञान भिन्न है। ऐसा जिनेंद्र भगवान का कथन है। यहाँ आशय यही है कि शब्द मात्र साधन है। उसके माध्यम से हम भीतरी ज्ञान को पहचान लें यही उसकी उपयोगिता है अन्यथा वह मात्र कागज है। जैसे भारतीय मुद्रा है, वह कागज की होकर भी भारत में मूल्यवान है, दूसरे स्थान पर कार्यकारी नहीं है, वहाँ उसको कागज ही माना जायेगा। इसी प्रकार यदि हम श्रुत का उपयोग भिन्न क्षेत्र में लेते हैं तो उसका कोई मूल्य नहीं है। यदि स्वक्षेत्र में काम लेते हैं तो केवलज्ञान की उत्पत्ति में देर नहीं लगती। अर्थात् कोई भी क्रिया करो, विधि के अनुसार करो। दान इत्यादि क्रिया दाता और पात्र की विशेषता द्रव्य और विधि की विशेषता से विशिष्ट हो जाती है, फलवती हो जाती है। औषधि सेवन में जैसे वैद्य के अनुसार खुराक और अनुपान का ध्यान रखा जाता है ऐसा ही प्रत्येक क्रिया के साथ सावधानी आवश्यक है।

स्वाध्याय करने का कहने से प्रायः ऐसा होता है कि जो समय स्वाध्याय के लिए निषिद्ध है उन समयों में भी स्वाध्याय करने लगते हैं। सिद्धांत-ग्रंथों के पठन-पाठन का अष्टमी व चतुर्दशी को निषेध किया है तो सावधानी रखना चाहिये। शास्त्र के प्रति बहुमान, उसके प्रति विनय, उसके लिए

निश्चित काल आदि सभी आपेक्षित हैं। शास्त्र पढ़ना, उसे ग्रहण और धारण करना सभी हो सके, इसका ख्याल रखना चाहिये। एकवर्ष में जो शांति से स्वाध्याय करना चाहिये उसे एक माह में कर लें तो क्या होगा मात्र पढ़ना होगा, ग्रहण और धारण नहीं होगा।

श्रुतज्ञान हमारे लिए बहुत बड़ा साधन है। श्रुतज्ञान के बिना आज तक किसी को भी मुक्ति नहीं मिली और न आगे मिलेगी। अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान का मुक्ति में उतना महत्व नहीं है जितना श्रुतज्ञान का है। केवल-ज्ञान भी उसी का फल है। यदि इस महान् श्रुत का हम गलत उपयोग करते हैं जो अर्थ का अनर्थ हो सकता है। हमें श्रुत के माध्यम से आजीविका नहीं चलानी चाहिये। इसे व्यापार का साधन नहीं बनाना चाहिए। यह पवित्र जिनवाणी है। वीर भगवान के मुख से निकली है। जो श्रुत प्राप्त है उसके माध्यम से स्व-पर कल्याण करना चाहिये।

श्रुत का फल बताते हुए परीक्षामुख सूत्र में आचार्य माणिक्यनंदी जी कहते हैं कि 'अज्ञान निवृत्तिहानोपानोपेक्षाश्च फलम्'- अर्थात् श्रुत की सार्थकता तभी है जब हमारे अंदर बैठा हुआ मोह रूपी अज्ञान- अंधकार समाप्त हो जाये और हेय उपादेय की जानकारी प्राप्त करके हेय से बचने का प्रयास किया जाये और उपादेय को ग्रहण किया जाय अर्थात् चारित्र की ओर कदम बढ़ना चाहिये। भले ही अल्प ज्ञान हो लेकिन उसके माध्यम से हमें संयमित होकर सदा गतिशील रहना चाहिये। यदि संयम की ओर गति होती रही तो हमारी प्रगति और उन्नति होने में देर नहीं है। हमारा अल्पज्ञान भी संयम के माध्यम से स्थिरता पाकर एक अंतर्मुहूर्त में अनंत ज्ञान में परिणत हो सकता है।

बंधुओं! आज यह पंचमकाल है। इसमें नियम से ज्ञान में, आयु में, शरीर और अन्य मोक्षमार्ग में सहयोगी अच्छी सामग्री में ह्रास होता जायेगा, अतः अपने अल्प (क्षयोपशम) की ओर ध्यान न देकर ध्येय की ओर बढ़ने का प्रयास करना चाहिये। जिस प्रकार नदी छोटी होकर भी एक दिन समुद्र की दिशा में बढ़ने के कारण समुद्र में मिलकर समुद्र का रूप धारण कर लेती है। उसी प्रकार जिसकी दृष्टि मुक्ति की ओर हो गयी है उसका भी एक दिन ऐसा आयेगा कि केवल-ज्ञान रूपी महान सागर में समा जायेगा। यही एक मात्र उद्देश्य रहना चाहिये, सम्यक् श्रुतज्ञान से आपूरित हर आत्मा के इसी भाव को हमने एक कविता में बांधा है-

धरा से फूट रहा है/नवजात है/और पौधा/धरती से पूछ रहा है/कि/यह आसमान को कब छूयेगा/छू सकेगा क्या नहीं/तूने पकड़ा है/गोद में ले रखा है इसे/छोड़ दे/इसका विकास रुका है/ओ माँ/माँ की मुस्कान बोलती है/भावना फलीभूत हो बेटा/आस पूरी हो/किन्तु आसमान को छूना/आसान नहीं है/मेरे अन्दर उतर कर/जब छूयेगा, गहन गहराईयाँ/तब कहीं संभव होगा/आसमान को छूना/

ऊंचाईयों की ओर यात्रा उस पौधे की तभी संभव है जब वह पौधा धरती की गहन गहराईयों में उतरेगा। ध्यान रहे विकास दोनों ओर चलता रहता है। भले ही वह पौधा आधा नीचे की ओर चला गया पर धरती माँ कहती है कि आसमान में ऊँचे जाना तभी संभव है जब धरती के भीतर जो कठोरता है उसको भी भेदकर भीतर जाने का साहस करेगा। पौधा जैसा आकाश में ऊपर हवा में हिलता रहता है, जड़ में भी ऐसा हिलने लग जाये तो धराशायी हो जायेगा। पेड़ धरती से संबंध छोड़ दे तो जीवन बर्बाद हो जाता है।

इसी प्रकार जिनवाणी माँ से हमारा संबंध है बंधुओ! जीवन तब तक रहे तक तक जिनवाणी माता को कभी मत भूलना और जिनवाणी माँ को भूलकर अन्यत्र कहीं मत जाना अन्यथा पेड़ की तरह दशा होगी। उन्नति हम चाहते हैं लेकिन उन्नति कैसे होगी, वह जानना चाहिये। श्रुत को आधार बनाकर चलेंगे तभी श्रुत के द्वारा वहाँ पहुँच पायेंगे जहाँ तक महावीर भगवान पहुँचे हैं। कैवल्य होने से पूर्व बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक श्रुत का आधार प्रत्येक साधक को लेना अनिवार्य है। थोड़ा सा श्रुत आने लगा तो अहंकार मत करो। अहंकार करना नादानी है। श्रुत की विनय करना, आदर करना और जिस रूप में बताया है उसी रूप में करना आवश्यक है।

ज्ञान का प्रयोजन ध्यान है और ध्यान का प्रयोजन केवल, ज्ञान है। अनंत सुख और शान्ति है। इसी को पाने का ध्येय बनाकर ज्ञान का आदर हमें करना चाहिये। हमारे ज्ञान में यदि अस्थिरता रहेगी तो हमारी यात्रा उर्ध्वगामी नहीं होगी। जैसे-जैसे ऊपर जायेंगे वैसे-वैसे देखने में आयेगा कि आसमान असीम है। ज्ञान का पार नहीं है। कैवल्य रूपी निरावरण ज्ञान का आसमान असीम है। वही हमारा साध्य है। इसी को पाने के लिए गणधर स्वामी जैसे महान् आत्मा और कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्य हमें निरन्तर ध्यान और आत्मलीनता की ओर प्रेरित करते हैं।

पानी को निम्नगा माना गया है, वह नीचे की ओर बहता है। जल का यह स्वभाव है। लेकिन जल का यदि कुछ उपयोग करना है, बिजली बनाना है या सिंचन के लिए नहरें बनाना हैं तो क्या करते हैं? बाँध बनाते हैं। जल की यात्रा तब भी नहीं रुकती। वह अब नीचे न जाकर ऊपर बढ़ने लगता है। ज्ञानोपयोग की धारा भी निरन्तर बहती रहती है। बहने वाले उपयोग का इतना महत्व नहीं है जितना की जब वह उर्ध्वगमन कर रहा है तब महत्वपूर्ण होता है। श्रुतज्ञान होने पर ध्यान रूपी बाँध के द्वारा उस ज्ञान को ऊपर की ओर ले जाना ही उपलब्धि है। इसके लिए महान संयम की आवश्यकता है। श्रुतज्ञान का सदुपयोग यही है कि उसको संयम का बाँध बाँधकर ऊपर उठा लेना।

कैसे ऊपर उठाना, तो ऐसे जैसे पंडित जी वाचना के समय लब्धि स्थानों के बारे में बता रहे थे कि श्रेणी कैसे चढ़ी जाती है। किसी प्रकार साधक अपनी साधना को ऊपर उठाता जाता है। वह अल्प समय में ही भावों में विशुद्धता लाता है और देखते-देखते ऊपर चढ़ जाता है। आप भी चाहें तो संयमित होकर एक-एक गुणस्थान ऊपर चढ़ सकते हैं। वही श्रुतज्ञान रूपी प्रवाह में संयम का बाँध बाँधकर स्वयं को ऊँचा उठने का उपाय है। संयम रूपी बाँध में बंधे हुए श्रुत की यही महिमा है।

जैसे जल को तपाने पर यह वाष्प बनकर ऊपर चला जाता है, उसे किसी आधार की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार जब कोई साधक, साधना करते-करते छद्मस्थ अवस्था की सीमा को पार कर जाता है तब अंतरिक्ष में ऊपर उठ जाता है। केवल-ज्ञान प्राप्त होते ही धरती से ऊपर उठ जाता है और आत्मा की अनंत ऊँचाईयाँ छू लेता है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि का यही एकमात्र लक्ष्य होना चाहिये कि मेरा जो श्रुतज्ञान उपलब्ध है इसी में मुझे संतुष्ट होकर नहीं बैठ जाना है किन्तु इस ज्ञान के माध्यम से निरावरित केवलज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना है।

मात्र उपदेश देने या सुनने से ज्ञान नहीं बढ़ता। ज्ञान को उर्ध्वगमन संयम के द्वारा मिलता है। हम श्रुतज्ञान को केवलज्ञान में ढाल सकते हैं। लेकिन आज तक कोई व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जिसने संयम के बिना ही श्रुतज्ञान को केवलज्ञान का रूप दिया है। श्रुत को केवल ज्ञान का साक्षात् कारण माना है। उसी श्रुत की आराधना आप लोगों ने एक-डेढ़ माह लगातार सिद्धांत-ग्रंथों के माध्यम से की है। जिस जिनवाणी को गुफाओं में बैठकर धरसेन, पुष्पदंत,

भूतबली और वीरसेन आचार्य जैसे महान् श्रुत सम्पन्न आचार्यों ने सम्पादित किया है उसे आज आप सभी सुख-सुविधाओं के बीच रहकर सुन रहे हैं तो कोई बात नहीं। इस प्रकार के ध्यान-अध्ययन की साधना करते-करते एक दिन आपको यह समय भी उपलब्ध हो सकता है जिस दिन संयमपूर्वक ज्ञान की आराधना के माध्यम से कैवल्य की प्राप्ति होगी।

अंत में उन गुरुवर श्री ज्ञानसागर जी महाराज का स्मरण कर रहा हूँ। जिनके परोक्ष आशीर्वाद से ही यह सारे कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो रहे हैं। उन्हीं की स्मृति में अपनी भावना समर्पित करता हूँ।

'तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश!
करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष।'

□□

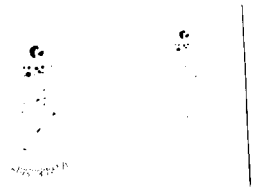

समीचीन साधना

आज की पावन बेला में भगवान महावीर को उस अलौकिक पद की प्राप्ति हुई है जिस पद के लिए उन्होंने वर्षों तक अथक साधना की। उनकी यह साधना दुनिया के समस्त प्राणियों से भिन्न थी। दुनिया का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है किन्तु सुख के सच्चे साधनों के प्रति इतना उद्यमशील चिंतन मननशील नहीं होता जितना होना आवश्यक है। महावीर भगवान ने मन से, तन से और वचन से सही साधना अपनाकर साधना की और उसका फल भी पाया है।

साध्य की प्राप्ति के लिए साधना आवश्यक है। मोक्षसुख यदि साध्य है, प्राप्तव्य है तो उसके लिए साधना करना अनिवार्य है। सभी बाह्य साधन मिल जाने पर भी अंतरंग साधना अनिवार्य है। जब तक सही-सही साधना नहीं होगी तब तक अभीष्ट सुख से वंचित करना पड़ेगा। अनंत सुख आत्मा का अनन्य और अत्यन्त निकटतम गुण है लेकिन उसे प्राप्त करना दुर्लभ है उसकी अनुभूति के लिए रागद्वेष और सांसारिक आशा तृष्णा को समाप्त करने का पुरुषार्थ करना होगा। सम्यक् साधना करनी होगी।

भगवान महावीर का कहना यही था कि

यह सुख की परिभाषा, ना रहे मन में आशा ।
ईदृश हो प्रति भाषा, परितः पूर्ण प्रकाशा ॥

'प्रातःकाल होने को था। रात्रि विश्राम बड़े बाबा के मंदिर में भीड़-भाड़ की वजह से यहाँ छोटे मंदिर में किया था। एक व्यक्ति दर्शन के लिए आये। उन्होंने हाथ में टार्च ले रखी थी उसके माध्यम से प्रकाश होता है। उस प्रकाश में जो वस्तु खो गई है वह हमें प्राप्त हो जाती है। उन सज्जन ने अनजाने में जैसे ही बटन दबाया तो प्रकाश उन्हीं के मुख पर पड़ा। मुझे चिंतन के लिए विषय मिल गया। उन सज्जन को क्या मिला, यह तो वे ही जाने।

मैं सोच में डूब गया कि यहाँ प्रत्येक प्राणी सुख को बाहर खोज रहा है जबकि सुख अंदर ही है। जो ज्ञान हमारे पास है उसका उपयोग हम बाहरी पदार्थों को जानने में कर रहे हैं। यही ज्ञान का दुरुपयोग है। इसीलिए,

अनादिकाल से वह सुख हमारे पास होते हुए भी अज्ञात ही रहा है। हम बाहरी पदार्थों की ओर टार्च का प्रकाश डाल रहे हैं। गलती टार्च के प्रकाश की नहीं है, उसका काम है मात्र दिखाना। यह हमारा काम है कि हम उसे किस ओर डालते हैं। अपने ऊपर उस टार्च का प्रकाश हमने कभी डाला नहीं। वह टार्च वाला व्यक्ति कभी भूलकर भी अपने आपको देखना नहीं चाहता, धोखे से, उसकी टार्च अपने ऊपर पड़ गयी। यही एकमात्र हमारे पुरुषार्थ की कमी है। आपके पास साधन होने पर भी उसका समुचित उपयोग करना नहीं चाहते। इसी कमी के कारण अनादि काल से आपके पास अनंत सुख होते हुए भी उससे वंचित रहना पड़ा है।

चेत चेतन चकित हो, स्वचिंतन बस मुद्रित हो।
यों कहता मैं भूला, अब तक पर में फूला॥

जिस समय वैराग्यमयी ज्ञान किरण आत्मा में उद्‌भूत होती है उस घड़ी हम समस्त विश्व को भूल जाते हैं और उपादेय भूत आत्म तत्त्व की अर्चना प्रारम्भ कर देते हैं। वह पावन घड़ी आज तक आप लोगों के जीवन में उपलब्ध नहीं हुई। आप सोचते हों कि किसी दूसरे को मिल जाए तो आपको भी मिल जायेगी। ऐसा नहीं है। दूसरे की विशुद्धि, दूसरे का पुण्य आपके काम नहीं आने वाला। भगवान महावीर स्वामी ने जिस समय अपने ध्यान चिंतन के फलस्वरूप अपने आत्मा को पाया, उस समय और भी लोग वहाँ थे लेकिन प्रत्येक को उसका लाभ नहीं मिला। जो प्रयास करेगा उसे ही वह सुखद क्षण मिलेंगे।

ऐसी स्थिति में हमें सोचना चाहिये कि हमारी साधना में कहाँ पर कमी है? कमी है तो क्यों है? उस कमी की पूर्ति कैसे होगी? ये तीन प्रश्न आपके मन में बार-बार उठना चाहिये और तदनुकूल प्रयास भी करना चाहिये। तभी वह पद हमें भी प्राप्त होगा जो महावीर भगवान ने प्राप्त किया था।

वैराग्य से तुम सुखी, भज के अहिंसा।
होता दुखी जगत है कर राग हिंसा॥

जहाँ पर प्रभु विराजमान हैं, वहीं पर सारा का सारा संसार विद्यमान है। लेकिन उनको अनंत सुख है और संसारी प्राणी को अनंत दुख है। वहाँ पर मुक्ति है, यहाँ पर बंधन है। इसका कारण यही है कि भगवान की साधना अहिंसा की है और आपकी हिंसा की है। उनकी साधना वीतरागता की है और यहाँ आपकी सरागता की है। यही बड़ा अन्तर है।

'संसार सकल त्रस्त है। पीड़ित व्याकुल विकल/इसमें है एक कारण/हृदय में नहीं हटाया राग को/हृदय में नहीं बिठाया वीतराग को/जो है शरण तरण कारण।' एक व्यक्ति की दस खंड की बिल्डिंग खड़ी है और वहीं पड़ोस में आपकी भी बिल्डिंग है लेकिन दोनों के सुख में अन्तर है। यदि उसके मकान को देखकर आपका मन कहता है कि कब इस प्रकार की बिल्डिंग का निर्माण करूँ। यह विचार ही आपके सुख को कम करने वाला है। उसने कुछ नहीं किया, आपको दुख नहीं पहुँचाया, आप स्वयं अपने भावों से दुखी तो हो सकते हैं। इसी प्रकार महावीर भगवान का निर्वाण महोत्सव आपको सुखी कभी बना सकेगा जब आप उनके विपरीत न जाकर अपनी साधना को उनकी ओर ले जायेंगे।

सत् साधना सहज, साध्य सदा दिलाती।
दुः साधना विषम, दुख को ही पिलाती॥

विपरीत साधना, राग की ओर जाना ही संसार के दुखों का कारण है। उसे छोड़े बिना सहज सुख मिलना असंभव है। आप रागद्वेष को, विषय कषाय को हटाना नहीं चाह रहे हैं और वीतरागता की उपासना मात्र करना चाहते हैं, तो इस उपासना मात्र से अनंत सुख को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। तदनुरूप कार्य भी करना होगा। जिस प्रकार शब्द व्यक्ति को भाव तक पहुँचाने में सीढ़ी का काम करते हैं। उसी प्रकार उपासना भी भगवान तक पहुँचाने में सीढ़ी के समान है। चलना और चढ़ना आपको ही पड़ेगा।

सच्चा साधक तो वही है जो प्रत्येक श्वांस में लक्ष्य को सामने रखता है और लक्ष्य के विपरीत बाधक कारणों से अपने को बचाकर गंतव्य की ओर निरंतर गतिशील रहता है। भगवान महावीर की उम्र उस समय 30 वर्ष की थी जिस समय उन्होंने दीक्षा धारण की। बारह वर्ष के अथक परिश्रम के उपरांत उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। आज तीस-तीस साल के नौजवान कई हैं लेकिन किसी का मन इस प्रकार के लक्ष्य को पाने के लिए तीस मिनट क्या, तीस सेकण्ड भी स्थिर नहीं रह पाता। क्षण भर में मन विचलित हो जाता है। भौतिक विषयों की चमक-दमक में लक्ष्य छूट जाता है।

उस पथिक की क्या परीक्षा कि पथ में शूल न हों।
उस नाविक की क्या परीक्षा कि धारा प्रतिकूल न हो॥

सच्चा पथिक तो वही है जो पथ में कांटे आने पर भी नहीं रुकता। सच्चा नाविक भी वहीं है जो प्रतिकूल धारा के बीच से नाव को निकालकर गंतव्य

तक ले जाता है। इसी प्रकार सच्चा साधक भी वहीं है जो विभिन्न संकल्प-विकल्पों के बावजूद भी अपनी मुक्ति मंजिल की ओर अग्रसर होता रहता है। यही एकमात्र इसकी परीक्षा है, परख है।

आज युवकों के मुख से जब पढ़ाई के स्थान पर परीक्षा की तारीख बढ़ाने के लिए हड़ताल की बात सुनता हूँ तो दंग रह जाता हूँ कि ये संस्कार इनमें कैसे और कहाँ से आये? अब लोग परिश्रम से डरते हैं, पुरुषार्थ करने से डरते हैं और यह बिना प्रयास सब पा लेने की नीति हमें रसातल की ओर ले जायेगी। विकास चाहते हुए भी विनाश ही होगा। भगवान महावीर ने सर्वप्रथम यह कहा कि आत्म-प्राप्ति के लिए सत् साधना अनिवार्य है। प्राप्ति के लिए देर भले ही लग जाये लेकिन अंधेर नहीं होगा। रेडीमेड जीवन जीना और साधना से बचने का प्रयास करना, यह गंतव्य से विपरीत जाना है।

एक व्यक्ति ने बड़े विश्वास के साथ कलकत्ता से बम्बई जाने का टिकिट खरीदा, थका हुआ था, भ्रमवश देहली वाली गाड़ी में बैठ गया और निश्चिंत होकर सो गया कि अब तो सुबह जाकर के उठना है। गाड़ी जा रही है देहली की ओर, उसे जाना था बाम्बे की ओर। ज्यों ही वह देहली के स्टेशन पर उतरता है तो चकित रह जाता है कि अरे! यह तो दिल्ली आ गया। टिकिट चेकर पूछता है कि तुम्हारा टिकिट कहाँ है? अब क्या जवाब दें? टिकिट बॉम्बे का है, पहुँच गये दिल्ली। मात्र टिकिट ठीक खरीदने से क्या होगा? ठीक दिशा वाली गाड़ी में बैठना भी अनिवार्य है।

जब एक सामान्य सी यात्रा में यात्री का कर्तव्य होता है कि स्टेशन पर आते ही पता करे कि गाड़ी किधर जा रही है और मुझे कहाँ जाना है। इसी तरह मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधक को सावधानी रखनी चाहिये। यदि किसी प्रकार की वह असावधानी करता है तो बहुत जल्दी लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

साध्य के साथ ही साधन पवित्र होना भी अनिवार्य है। भगवान महावीर ने साधनों के क्षेत्र में अहिंसा को ही सर्वश्रेष्ठ माना। मोक्ष के पथिक के लिए वही पाथेय है। इसके विपरीत हिंसा, रागद्वेष, मोह आदि बाधक हैं। जिनके माध्यम से कभी कार्य पूर्ण नहीं होगा। साधना यदि मोक्ष पहुँचने की करनी है तो इन बाधक साधनों को हटाना भी अनिवार्य है। बाधक कारण हटाने पर साधक कारण अपने आप आ जायेंगे। इसका अर्थ यह नहीं है बाधक कारण का अभाव किये बिना ही साधक कारण आ जायेंगे। नहीं, बाधक कारणों के अभाव के लिए पुरुषार्थ करना होगा।

हिंसा का जैसे-जैसे अभाव होता जायेगा वैसे-वैसे जीवन में अहिंसा आती जायेगी, कहीं बाहर ले जाने की आवश्यकता नहीं है। बाहर से प्रकाश को लाने की आवश्यकता नहीं, मात्र भीतरी अंधकार को अज्ञान को हटाया है। जैसे-जैसे अज्ञान-अंधकार मिटता जाएगा वैसे-वैसे ज्ञान का प्रकाश उद्‌भूत होता जाएगा।

साधन का समुचित उपयोग करना भी साध्य की प्राप्ति में आवश्यक है। जब तक स्पीकर से आवाज आती रहती है तब तक आप कानों को इधर-उधर की आवाज सुनने में लगाये रहते हैं लेकिन स्पीकर बंद हो जाये तो आपको एकाग्र होकर कान लगाकर सुनना पड़ता है। वह साधन का समुचित उपयोग नहीं है। स्पीकर से आवाज सुनते समय भी एकाग्रता आनी चाहिये। अन्यथा स्पीकर होना व्यर्थ है। प्राप्त जीवन भी स्वयं एक साधन है। आपने अपने जीवन को बहुत व्यस्त बना रखा है और व्यस्तता भी फालतू कामों की अधिक है।

व्यय उतना खतरनाक नहीं है कितना अपव्यय। अपव्यय जीवन में आकुलता पैदा कर देता है। समय का अपव्यय, धन का अपव्यय, शारीरिक शक्ति का अपव्यय, ऐसे बहुत प्रकार के अपव्यय होते हैं। इस तरह मालूम ही नहीं पड़ता कि हमारा सारा का सारा जीवन अपव्यय की कोटि में जा रहा है। अंतिम समय में जब जीवन समाप्त होने लगता है तो पश्चाताप ही हाथ लगता है।

आधे दिन पाछे गए हरि से किया न हेत।
अब पछताये होत का चिड़िया चुग गयी खेत॥

मान लो एक महिला दूध तपा रही है। करीब आधा घंटा हो गया। अग्नि तीव्र होने से वह दूध उफनकर ऊपर आ रहा है। उस समय यदि वह महिला उसे फूँकने लग जाये तो क्या होगा? फूंकते-फूंकते भी वह दूध बाहर आ जाता है बर्तन से। जितनी उष्मा चाहिये थी उससे ज्यादा हो गयी तो उष्मा का अपव्यय हुआ, साथ ही दूध नीचे गिर गया। यह भी अपव्यय हो गया। दोनों तरह से घाटा पड़ गया। तो साधन का सदुपयोग सावधानी से करें, अन्यथा हमारा सारा का सारा जीवन आदि से अंत तक अपव्यय में ही चला जा रहा है।

इस प्रकार जो व्यक्ति अपने मार्ग में आने वाले बाधक कारणों को हटाकर साधक कारणों को लाने का प्रयास कर रहा है, साधन का सदुपयोग

कर रहा है, अपव्यय से बच रहा है और साधन की निर्मलता को बनाये रखता है, वही मंजिल को पा जाता है। प्रायः जो लोग विषय कषाय नहीं छोड़ते वे ही जीवन के अंतिम समय में पश्चाताप करते हैं। जब वे अपना इतिहास देखते हैं तो उन्हें रोना आ जाता है कि अपने जीवन में कुछ भी धार्मिक कार्य नहीं किया। अब मुझे नीचे जाना पड़ेगा। पतन के गर्त में स्वयं को जाते देखकर रोते हैं।

जिसने अच्छे कार्य किये हैं उसे अंत समय में रोना नहीं पड़ता, जीवन भर की शांति बनी रहती है। उसका जीवन आगे भी सुखी होता है। बंधुओं! जो भी साधना हो, वह अहिंसा पूर्वक हो, रागद्वेष को कम करते हुए हो, तभी समीचीन होगी। अहिंसा कोई अलग चीज नहीं हैं रागद्वेष को हटाना ही अहिंसा है। जो रागद्वेष से सहित है, वे हिंसक हैं और साधना के मार्ग से स्खलित हो जाते हैं।

महावीर स्वामी ने अपने आपको बहुत जल्दी रागद्वेष से निवृत किया था। समीचीन साधनों को अपनाकर बारह साल में अपना कार्य पूरा किया। बारह साल तो प्रवाह की अपेक्षा से लगे थे, कैवल्य की उपलब्धि तो अंतर्मुहूर्त में हो गयी। समीचीन साधना के पूरे होते ही सकल चराचर पदार्थों को जानने वाला वह केवलज्ञान उपलब्ध हो गया। इसी प्रकार हमें भी रागद्वेष की प्रणाली से बचते हुए अहिंसा की गोद में अपने आपको समर्पित करना है।

भगवान महावीर और उनके धर्म को लेकर कुछ लोगों का ऐसा मानना है कि इस धर्म में परोपकार की कोई बात नहीं है। लेकिन आप लोग जिस परोपकार की बात करते हैं, उस परोपकार से भी बढ़कर यदि कोई चीज है तो वह 'स्व' के ऊपर उपकार है। यही भगवान महावीर और उनके बताये अहिंसा धर्म का आधार है। 'स्व' के ऊपर जो उपकार करेगा उससे बढ़कर और कोई परोपकार नहीं हो सकता। जो 'स्व' के उपकार में लग जाता है उसके द्वारा 'पर' के प्रति कोई बाधा नहीं होती। यही उसका 'पर' के ऊपर उपकार है। आज तो परोपकार में भी लेन-देन चलता है। स्वार्थ सिद्धि के लिए परोपकार किया जाता है।

जैन धर्म में स्व-पर उपकार का धर्म माना है। जो अपने ऊपर उपकार करता है अर्थात अपने आत्म-कल्याण में लगा है, उसके द्वारा 'पर' का उपकार सहज ही हो जाता है। यदि आप दूसरे के लिए बाधा उत्पन्न न करें तो यही 'पर' के प्रति आपका महान उपकार माना जायेगा। जिस समय आप

कोई भी प्रवृत्ति करेंगे उस समय दूसरे को कुछ न कुछ धक्का अवश्य लगेगा। स्वर्णाभरण बनाते समय जिस प्रकार उसमें कुछ न कुछ बट्टा लगता है उसी प्रकार यहाँ पर भी है। इसलिए सीधा उपाय है कि

मरहम पट्टी बांधकर वृण का कर उपचार।
ऐसा यदि ना बन सके डंडा तो मत मार।।

लेकिन इसमें भी यह कहकर हम अपने आपको कृतार्थ बनाना चाहते हैं कि मैंने मरहम-पट्टी की। मरहम-पट्टी के माध्यम से हम उस व्यक्ति पर अपना उपकार लादना चाहते हैं और घाव ठीक होने के उपरांत जब कभी वह मिल जाता है तो कहते हैं कि हमने तुम्हारी सेवा की थी।

यह सच्चा उपकार नहीं है। आपने इस तरह के उपकार के माध्यम से उस व्यक्ति पर अपना अधिकार जमा लिया। उसका भावी जीवन भी बंध गया। समीचीन सेवा तो निस्वार्थ सेवा ही है। जो कि आज तक आपने नहीं की। किसी व्यक्ति ने एक बार मुझे सुनाया था कि एक व्यक्ति तालाब में डूब रहा था। वह जिस समय तालाब में डूब रहा था उस समय एक दूसरे व्यक्ति ने उसे डूबते देख लिया। वह तैरना जानता था, उसने फौरन जाकर उसे बचा लिया। बाहर निकलने के उपरांत वह व्यक्ति जो डूब रहा था, वह बड़ा कृतज्ञ हुआ और नम्रीभूत होकर बोला कि आपने मुझे जीवन प्रदान कर बहुत उपकार किया, मैं यह कभी भूलूँगा नहीं। आप यदि कुछ सेवा मुझसे चाहो तो कहो।

डूबने वाला व्यक्ति प्रकाशक था। एक दिन बचाने वाला व्यक्ति उसके पास पहुँच गया और कहा कि आज मेरा थोड़ा सा काम है। सुनते ही वह व्यक्ति बोला ''हाँ-हाँ कहिये आपका मेरे ऊपर बहुत उपकार है वह कभी भूलूँगा नहीं।'' तब उस बचाने वाले ने अपना एक कविता संग्रह देकर कहा कि मैंने इसे लिखा है आप इसे प्रकाशित कर दीजिये। वह प्रकाशक कविताएं पढ़कर बोला कि भाई साहब, आप ऐसा करो कि मुझे तालाब के किनारे ले चलो मैं जिसमें डूबा था, आप मुझे डुबो दो। मुझे डूबना मंजूर है लेकिन आपकी यह कविता संग्रह छापना मंजूर नहीं है।

आज यही हो रहा है कि यदि कोई व्यक्ति उपकार करता भी है तो प्रत्युपकार की इच्छा से करता है। आप हिसाब लगाते रहते हैं कि मैंने इतने इतने कार्य किये हैं। यह उपकार नहीं, यह तो एक प्रकार व्यवसाय हो गया। इस प्रकार के उपकार की बात महावीर भगवान ने नहीं कहीं। उपकार का वास्तविक रहस्य महावीर भगवान के जीवन में प्रकट हुआ कि रागद्वेष से बचते

रहो, यही उपकार है। रागद्वेष 'पर' की अपेक्षा से होते हैं 'स्व' की अपेक्षा रागद्वेष कभी पैदा नहीं हुआ करते। हम वस्तु को किसी की अपेक्षा छोटा या बड़ा कहते हैं। पर जो वस्तु को न बड़ा कहता है न छोटा कहता है, मात्र समता रखता है वही व्यक्ति भगवान महावीर के मार्ग पर चल पाता है। किसी को अच्छा कह दें तो दूसरे को बुरा लग सकता है, इसलिए जो है यही ठीक है।

जो है सो है। इनमें कभी रागद्वेष संभव नहीं है। लेकिन क्या है, कैसा है; कौन है; यह बात आते ही तेरा मेरा रूप रागद्वेष होना प्रारंभ हो जाता है। 'है' के रूप में सब स्वीकार करना और तेरे-मेरे के भाव से ऊपर उठना ही सच्ची साधना है। 'है' यह भाव केंद्र की तरह है और 'मैं' और मेरा-तेरा यह सब परिधियाँ हैं। केंद्र तक पहुंचने के लिए परिधि का त्याग परमावश्यक है। जो परिधि में अटक जाता है वह केंद्र तक कभी नहीं पहुँच पाता। सुरक्षा तो केंद्र बिंदु में है और परिधि में मात्र भटकाव है, जीवन लीला वहाँ समाप्त हो जाती है।

महावीर स्वामी ने आज के दिन अनादि काल से चली जा रही, 'मैं' और 'मेरा' रूप पर्याय बुद्धि को हटा लिया और जो ध्रौव्य है, जिसे केंद्र बिंदु कहना चाहिये, उसे प्राप्त कर लिया। केंद्र में रहने वाला व्यक्ति कभी पिसता नहीं है। जो केंद्र से हटकर परिधि में रहा आता है वह चक्की के पाटों में धान के दाने की तरह पिसता रहता है। इसलिए जो सही जीवन जीना चाहता है, जो जन्म, जरा और मृत्यु से पार होना चाहता है उस व्यक्ति के लिए यह अवश्य ध्यान रहना चाहिये कि महावीर भगवान ने जो केंद्र बिंदु बनाया था वह है मात्र सत्ता, जिस सत्ता में किसी प्रकार की विक्रिया नहीं होती, उसी सत्ता को हमें प्राप्त करना है।

'व्यक्तित्व की सत्ता मिटा दें। उसे महासत्ता में मिला दें। आर-पार तदाकार। सत्तामात्र निराकार।' ऐसा जीवन बन जाय' जो आर 'पार और निराकार हो जाए। हमारी दृष्टि पर्यायों में न अटके बल्कि महासत्ता में लीन हो जाये। यही निर्वाण की दशा है। अंदर-कंदर, मंदर-सुंदर अर्थात् जो अंदर है, द्रव्य है' वहाँ ऐसा कंदर अर्थात् ऐसी गहराई है कि जहाँ पहुँच जाने पर कोई बाहरी आवाज कानों तक नहीं आ सकती है। वहाँ पर सुंदर, मंदर अर्थात् चेतनात्मक ज्ञान-दर्शन रूप आत्मा बैठा हुआ है।

अंत में यही कहना चाहूँगा कि यदि किसी पर उपकार नहीं कर सकते तो अपकार करने के भाव मत करो। किसी का अहित नहीं करना और 'स्व' हित

में लगे रहना, सही मायने में यही परोपकार है। जो अपने ऊपर उपकार करने में लगा है वही व्यक्ति वास्तव में सभी जीवों के ऊपर उपकार कर सकता है। भगवान महावीर के आत्म-कल्याण में जन-कल्याण छिपा हुआ है। हमें उनके बताये मार्ग पर चलकर आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर होना चाहिये।

□□

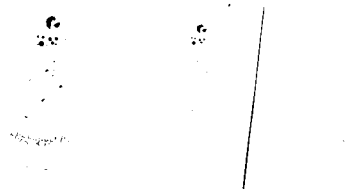

मानवता

सर्दी का समय है। रात की बात, लगभग बारह बज गये हैं। सब लोग अपने अपने घरों में अपनी-अपनी व्यवस्था के अनुरूप सर्दी से बचने के प्रयत्न में हैं। खिड़कियाँ और दरवाजे सब बंद हैं। पलंग पर विशेष प्रकार की गर्म दरी बिछी है। उसके ऊपर भी गादी है, ओढ़ने के लिए रजाई है। पलंग के समीप अंगीठी भी रखी है। एक-एक क्षण आराम के साथ बीत रहा है।

इसी बीच कुछ ऐसे शब्द, ऐसी आवाज सुनाई पड़ी जो दुख-दर्द भरी थी। इस प्रकार दुख भरी आवाज सुनकर मन बेचैन हो गया। इधर-उधर उठकर देखते हैं। तो सर्दी भीतर घुसने का प्रयास कर रही है। वह सोचते हैं कि उठूँ कि नहीं उठूँ। कुछ क्षण बीतने के उपरांत वह करुण आवाज पुन: कानों में आ जाती है। उठने की हिम्मत नहीं है। सर्दी बढ़ती जा रही है पर देखना तो आवश्यक लग रहा है।

थोड़ी देर बाद साहस करके देखते हैं तो बाहर कुत्ते के तीन चार छोटे-छोटे बच्चे सर्दी के मारे सिकुड़ गये थे। आवाज इन्हीं के रोने की थी। उन्हें देखकर रहा नहीं गया और वे अपने हाथों में उन कुत्ते के बच्चों को उठा लेते हैं और जिस गादी पर वे शयन कर रहे थे उसी पर लिटा देते हैं। धीरे-धीरे अपने हाथों से उन्हें सहलाते हैं। सहलाने से वे कुत्ते के बच्चे सुख-शान्ति को अनुभव करने लगे। वेदना का अभाव सा होने लगा। उन बच्चों को ऐसा लगा जैसे कोई माँ उन्हें सहला रही हो।

सहलाते-सहलाते उनकी आँखे डब-डबाने लगीं। आँसू बहने लगे। वे सोचने लगे कि इन बच्चों के ऊपर मैं और क्या उपकार कर सकता हूँ। इनका जीवन अत्यंत परतंत्र है। प्रकृति का कितना भी प्रकोप हो, पर उसका कोई प्रतिकार ये नहीं कर सकते। ऐसा दयनीय जीवन ये प्राणी जी रहे हैं। हमारे जीवन में एक क्षण के लिए भी प्रतिकूल अवस्था आ जाए तो हम क्या करते हैं? सारी शक्ति लगा कर उसका प्रतिकार करते हैं। संसार में ऐसे कई प्राणी होंगे जो प्रतिकार की शक्ति के अभाव में यातना पूर्वक जीते हैं। कोई कोई तो मनुष्य होकर भी पीड़ा और यातना सहन करते हैं। उन्होंने उसी

समय से संकल्प ले लिया कि "अब मैं ऐश-आराम की जिन्दगी नहीं जिऊँगा। ऐश-आराम की जिंदगी विकास के लिए कारण नहीं बल्कि विनाश के लिए कारण है। या कहो ज्ञान का विकास रोकने में कारण है। मैं ज्ञानी बनना चाहता हूँ। मैं आत्म-ज्ञान की खोज करूँगा। सबको सुखी बनाने का उपाय खोजूँगा।" उन कुत्ते के बच्चों की पीड़ा को उन्होंने अपने जीवन के निर्माण का माध्यम बना लिया। जीवन के विकास के लिए ऐसा ही कोई न कोई निमित्त आवश्यक होता है। यह कथा गांधी जी के जीवन की है। गादी पर सुलाने वाले और कुत्ते के बच्चों को सहलाने वाले वे गांधी जी ही थे।

इस घटना से प्रभावित होकर उन्होंने नियम ले लिया कि सभी के हित के लिए अपना जीवन समर्पित करूँगा। जिस प्रकार मैं इस संसार में दुखित हूँ उसी प्रकार दूसरे जीव भी दुखित है। मैं अकेला ही सुखी बनूँ, यह बात ठीक नहीं है। मैं अकेला सुखी नहीं बनना चाहता, मेरे साथ जितने और प्राणी हैं सभी को सुखी बनाना चाहता हूँ। जो कुछ मेरे लिए है, वह सबके लिए होना चाहिये। दूसरों के सुख में ही मेरा भी सुख निहित है। उन्होंने अपनी आवश्यकताएँ सीमित कर लीं। एकत्रित भोग्य पदार्थों की सीमा बांध ली।

एक दिन की बात। वे घूमने जा रहे थे। तालाब के किनारे उन्होंने देखा कि एक बुढ़िया अपनी धोती धो रही थी। देखते ही उनकी आंखों में आँसू आ गये। आधी धोती बुढ़िया ने पहन रखी थी और आधी धोती धो रही थी। आपने कभी सोचा? कितने हैं आपके पास कपड़े? एक बार में एक ही जोड़ी पहनी जाती है, यह बात सभी जानते हैं लेकिन एडवांस में जोड़कर कितने रखे हैं? बोलो, चुप क्यों?

आपकी जिन पेटियों में सैकड़ों कपड़े बंद पड़े हैं उन पेटियों में घुस-घुसकर चूहे कपड़े काट रहे होंगे। पर फिर भी आपके दिमाग में यह चूहा काटता रहता है कि उस दिन बाजार में जो बढ़िया कपड़ा देखा था वह हमारे पास होता। जो पेटी में बंद हैं, उनकी ओर ध्यान नहीं है, जो बाजार में आया है उसे खरीदने की बेचैनी है। सारे काम छोड़कर उसी की पूर्ति का प्रयत्न है। यही तो अपव्यय है। यही दुख का कारण है। गांधी जी ने उस बुढ़िया की हालत देखकर सोचा कि अरे! इसके पास तो ठीक से पहनने के लिए भी नहीं है, ओढ़ने की बात तो बहुत दूर है। कितना अभावग्रस्त जीवन है इसका, लेकिन फिर भी इसने किसी से जाकर अपना दुख नहीं कहा। इतने में ही काम चला रही है। जब से गांधी जी ने जनता के दुख भरे जीवन को देखा